नन्ददास कृत—

रास-पंचाध्यायी

तथा

भँवर-गीत

[मूलपाठ, व्याख्या, काव्य-सौन्दर्य, समालोचना
समन्वित छात्र-संस्करण]

सम्पादक—

डा० सुधीन्द्र, एम. ए., पी-एच. डी.

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

तृतीय संस्करण—अप्रैल १९५९
मूल्य २)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बागमुजफ्फ़रखाँ, आगरा।

निवेदन

नन्ददास कृत 'रास-पंचाध्यायी' और 'भँवर गीत' ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी कृतियां हैं। इनका अध्ययन साहित्य के विद्यार्थियों को करना पड़ता है।

इन दोनों प्रसिद्ध काव्यों का (मूल-पाठ, टीका, काव्य-सौंदर्यसूचक टिप्पणियों, शब्दार्थ तथा समालोचनात्मक भूमिका-सहित) छात्र-संस्करण प्रस्तुत करते हुए मैं सन्तोष का अनुभव करता हूं।

पुस्तक में पाठ नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित नन्ददास-ग्रंथावली के अनुसार है। प्रयाग विश्वविद्यालय के 'नन्ददास' से भी पाठ-भेद ग्रहण करके टीका में उसका समावेश कर दिया गया है। आशा करता हूं कि इस रूप में यह पुस्तक साहित्य के अध्येताओं के लिये पूर्ण उपयोगी हो सकेगी।

'विनोद पुस्तक मंदिर' की प्रेरणा से यह कार्य मैं कर सका, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

कृष्णायन : आगरा
२५ जुलाई, १९५३

निवेदक—
सुधीन्द्र

विषय-सूची

नन्ददास

(क) जीवनी

महाप्रभु वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी के द्वारा प्रतिष्ठित भक्त-सुकवियों के 'अष्टछाप'* में सुकवि नन्ददास का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्री विठ्ठलनाथ जी के चारों शिष्यों में तो ये अग्रगण्य ही थे। अपने इन दीक्षा-गुरू का पुण्य-स्मरण नन्ददास जी ने अपने पदों में अनेक बार किया है :—

(१) श्री वल्लभ-सुत के चरन भजो (२) नन्ददास प्रभु षट् गुन संपन श्री विठलेश बरौं (३) प्रात समैं श्री वल्लभसुत के वदन-कमल को दरसन कीजे। आदि-आदि।

'लीला-पद-रस-रीति-ग्रन्थ-रचना में आगर' सुकवि नन्ददास के विषय में प्रारम्भिक और मौलिक तथ्यों का संकेत भक्त नाभादासजी ने किया है। उनके 'भक्तमाल' में नन्ददास जी के विषय में यह छप्पय है—

लीला - पद - रस - रीति-ग्रन्थ - रचना में आगर।
सरस उक्ति, रस जुक्ति, भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुर पयधि लों सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सकुल रांवलित भक्त - पद - रेनु - उपासी॥
श्री चन्द्रहास-अग्रज-सुहृद परम प्रेम पद में पगे।
श्री नन्ददास आनन्दनिधि रसिक सु प्रभु हित रंग मगे॥

---

* अष्टछाप में ये आठ कवि हैं—सूरदास, कृष्णदास, कुंभनदास, परमानन्ददास नन्ददास, गोविन्ददास, चतुर्भुजदास तथा छीतस्वामी।

यद्यपि ग्रंथ में नन्ददास के स्थान पर 'विष्णुदास' नाम है—

सूरदास सौ तौ कृष्ण तोक परमानन्द जानौ।
कृष्णदास सो ऋषभ छीत स्वामी सुबल बखानौ॥
अर्जुन, कुंभनदास, चतुर्भुजदास विशाला,
विष्णुदास सो भोजस्वामी गोविन्द श्री दामाला॥
अष्टछाप आँठों सखा श्री द्वारकेश परमान।
जिनके कृत गुन गान करि निज जन होत सुथान॥

परन्तु 'श्री गोवर्द्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' के लेखक गोस्वामी हरिनाथ जी ने भी 'भावप्रकाश' में नन्ददास के विषय में यह उल्लेख किया है "जसके पद अष्टछाप में गाइयत है।" अतः ये अष्टछाप के कवि अवश्य थे।

नन्ददास जी गोस्वामी तुलसीदास जी के छोटे भाई माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य के सभी विद्वान इतिहासकार इसी मत के हैं। परन्तु यह तथ्य निर्विवाद नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि वे चन्द्रहास के अग्रज अवश्य थे। यदि तुलसीदास जी के सगे अनुज होते तो कदाचित् नाभादास जी का छन्द 'तुलसीदास अनुज सुहृद' हुआ होता।

जन्म-स्थान

उत्तर प्रदेश के एटा जिले के सोरों नगर के पास रामपुर ग्राम (जो अब श्यामपुर कहा जाता है) नन्ददास का जन्म स्थान है।

जन्म-तिथि

अष्टछाप के विशेषज्ञ डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार इनका जन्म सम्वत् १५९४ (सन् १५३७ ई०) में हुआ था; यद्यपि कांकरोली के श्री द्वारिकाप्रसाद जी ने इनका जन्म इसके चार वर्ष पूर्व माना है।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार नन्ददास का जीवन वृत्त सार-रूप में इस प्रकार है—

नन्ददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई थे। ये अत्यन्त विषया-सक्त थे और नाच-तमाशे में अवश्य पहुँचते थे। एक समय कुछ लोग श्री

रणछोड़ जी के दर्शन को द्वारिका चले तब यह भी तुलसीदास जी की आज्ञा न मानकर यात्रा को चल दिये।

यह मथुरा जी सीधे पहुँच गये पर जिन लोगों के साथ यह वहाँ गये थे उनको छोड़ कर अकेले मथुरा जी सीधे पहुँच गये, यह आगे बढ़े, परन्तु रास्ता भूलकर सिन्धनद में जा पहुँचे।

वहाँ एक क्षत्री-बहू का रूप देखकर ये उम पर मोहित हो गये। यह नित्य वहाँ जाते और उसे देखकर चले आते। होते-होते यह बात सारे नगर में प्रसिद्ध हो गई। उस स्त्री को घर वालों ने बहुत कुछ रोका-टोका पर नन्ददास ने जब एक न मानी तब उन लोगों ने उस स्थान को छोड कर श्री गोकुल में चलकर रहना ही ठीक किया और वे ग्राम छोड़ कर चल दिये।

नन्ददास भी पता लगा कर गोकुल की ओर चल पड़े। उन लोगों से दूर-दूर पीछे लगे चले। जमुना जी के तट पर पहुँचे वे तो नाव पर पार उतर कर श्री गोकुल में गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी के पास पहुँच गये, पर नन्ददास जी इसी पार बैठे रह गये। श्री गोसाईं जी ने कहा कि उस ब्राह्मण को तुम लोग उस पार क्यों छोड़ आये हो। यह सुन करके बड़े लज्जित हुए।

तब श्री गुसाईं जी ने अपने एक सेवक को भेजकर नन्ददासजी को बुलवाया। नन्ददास जी की आखें श्री गोसाईं जी के दर्शन करते ही खुल गईं और उन्होंने चरणों पर गिर कर दण्डवत् किया। श्री गुसाईं जी ने श्री यमुना-स्नान कराकर इन्हें इष्ट मन्त्र दिया। इसके अनन्तर यह महाप्रसाद लेने जो बैठे, तो लीला का जो अनुभव हुआ तो सारी रात बैठे रह गये। पत्तल से न
सवेरे श्री गुसाईं जी ने आकर कहा—'नन्ददास उठो, दर्शन क
तब उठे और श्री गुसाईं जी की बन्दना की। तब से य
और भगवत्गुणानुवाद में लगे रहते।

तुलसीदास जी ने यह समाचार सुनकर न ... भाँति पत्र लिखा तो इन्होंने उत्तर दिया कि मैं क्या करू ...

एक पत्नीव्रत हैं, और श्रीकृष्ण अनन्त पत्नियों के स्वामी हैं, अब तो सर्वस्व उनके अर्पण कर चुका हूँ। × × × तुलसीदास जी ने इनसे कहा कि हमारे सग चलो पर यह नहीं गये। इसके अनन्तर यह तुलसीदास जी को श्री गोवर्द्धननाथ जी के दर्शन को लिवा ले गये पर उन्होंने सिर नहीं झुकाया, तब नन्ददास जी ने दोहा कहा—

कहा कहूँ छवि आपकी, भले विराजे नाथ।
तुलसी मस्तक तब नमै, धनुस-बान लेहु हाथ॥

यह सुनकर श्री गोवर्द्धननाथजी ने श्री रामचन्द्र जी का रूप धर कर दर्शन दिया।

काव्य-काल

नन्ददास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र गोसाईं विठ्ठलनाथ जी द्वारा पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। वे गद्दी पर सं० १५९१ (सन्-१५३४ ई०) में बैठे थे, अतः नन्ददास जी का दीक्षा-काल इसके उपरान्त का सिद्ध होता है। इस प्रकार कवि का रचना-काल विक्रम की १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध (ईसा की १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध) होना प्रमाणित होता है।

कृतियाँ

नन्ददास जी के ग्रंथों की संख्या फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी के 'इस्त्वार दा ला लितरेत्यूर एंदुई ए ऐंदुस्तानी' (१८७० ई०) के अनुसार १४ है; शिवसिंह सरोज' (१८८३ ई०) के अनुसार १६ है, डा० सर जार्ज ग्रियर्सन के "माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान" (१८८९ ई०) के अनुसार ७ है; मिश्रबन्धुओं के "मिश्रबन्धु विनोद" (१९२६ ई०) के अनुसार २२ है, पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार २३ है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार २७ है, श्री द्वारकेश पुस्तकालय, कांकरोली (राजस्थान) के अनुसार २८ है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने दो और मुद्रित ग्रंथों की सूचना दी है—जो इस संख्या को ३० तक पहुँचा देती है।

यह सूची इस प्रकार है—

क—(१) पंचाध्यायो (२) नाम मंजरी (३) अनेकार्थ मंजरी (४) रुक्मिनी मंगल (५) भंवर गीत (६) सुदामा चरित्र (७) विरह-मंजरी (८) प्रबोध चन्द्रोदय नाटक × (६) गोवर्द्धन लीला × १० दशम् स्कन्ध (११) रस मंजरी × (१२) रास मंजरी (१३) रूप मंजरी (१४) मान मंजरी।

ख—(१५) दान लीला × (१६) मान लीला ×

ग—(१७) हितोपदेश × (१८) ज्ञान मंजरी × (१६) नाम चिन्तामणि माला (२०) नासकेतुपुराण (२१) श्याम सगाई (२२) विज्ञानार्थ प्रकाशिका।

घ—(२३) सिद्धान्त-पंचाध्यायी

ङ—(२४) जोगलीला × (२५) फूल मंजरी × (२६) रानी मंगौ × (२७) कृष्ण मंगल ×

च—(२८) रासलीला ×

छ—(२६) बाँसुरी लीला × और (३०) अर्थ चन्द्रोदय ×

उपर्युक्त लम्बी तालिका मे जिन कृतियों पर × लगाया गया है उनका नन्ददास-रचित होना संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं।

क—(१) नाम मजरी (२) मान मंजरी (३) नाम चिन्तामणि माला वस्तुत: एक ही कृति (तीन विभिन्न नामों से) है।

ख—(४) प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक (५) रास मंजरी (६) मान लीला (७) ज्ञान मंजरी (८) विज्ञानार्थ प्रकाशिका (६) बाँसुरी लीला (१०) अर्थ चन्द्रोदय के केवल नाम ही सुने जाते हैं।

ग—इनके अतिरिक्त दानलीला, रासलीला आदि आदि भाषा-शैली और काव्य-गुण की दृष्टि से सुकवि नन्ददास की कृतियाँ नहीं प्रतीत होतीं। अन्य कृतियां भी अनेक कारणों से नन्ददास की नहीं जान पड़तीं।

छानबीन से यह निष्कर्ष निकला है कि कवि की प्रामाणित कृतियाँ केवल ११ हैं—

(१) रूप मंजरी (२) विरह मंजरी (३) रस मंजरी (४) मान मंजरी नाम माला (५) अनेकार्थ मंजरी (६) स्याम सगाई (७) भ्रमर (भंवर) गीत (८) रुक्मिणी-मंगल (९) रास पंचाध्यायी (१०) सिद्धान्त पंचाध्यायी और (११) भाषा दशम स्कन्ध ।

[इसके अतिरिक्त 'गोवर्द्धन लीला, सुदामा चरित्र और पदावली का समावेश विद्वान सम्पादक श्री वृजरत्नदास ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "नन्ददास ग्रन्थावली" के अन्तर्गत किया है ।]

कृतियों का परिचय

१—रास-पंचाध्यायी

'रास पंचाध्यायी' नन्ददास जी की सर्वश्रेष्ठ और प्रसिद्धतम काव्यकृति है। इसकी अनेक प्राचीन प्रतियाँ मिलती हैं, जिनका लिपिकाल १७५७ वि. से १८२३ वि. तक है। इनमें कम से कम २०६ और अधिक से अधिक ३२७ पद तक संग्रहीत हैं। अतः इसमें प्रक्षिप्त अंश (क्षेपक) पर्याप्त मात्रा में होना सिद्ध होता है।

'रास पंचाध्यायी' जैसा नाम से भी स्पष्ट है, कृष्ण और गोपियों के रास का वर्णन है। श्रीमद्‌भागवत इसका मूल आधार है। उसके २६ से ३३ तक पाँच अध्याय 'रासलीला' के हैं जिनका काव्य-रूपान्तर कवि ने 'रास पंचाध्यायी' के रूप में किया है।

२—सिद्धान्त-पंचाध्यायी

'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में कथानक 'रास पंचाध्यायी' का ही है परन्तु इसमें सिद्धान्तों का प्रतिपादन विशिष्ट है! विद्वानों के ज्ञान-मार्ग से, जिसमे बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती तथा इसलिए ज्ञान ही सर्वस्व है, भिन्न मार्ग (भक्ति मार्ग) का इसमें सरस प्रतिपादन है। 'रास पचाध्यायी' में गोपियों के आने पर 'अनाकृष्टमन' श्रीकृष्णजी ने जो उपदेश दिया था वह केवल उनके उत्तर द्वारा उनकी भक्ति, शुद्ध प्रेम को संसार पर प्रकट करने के लिये था। इसके अनन्तर श्रीकृष्णजी क्यों छिप गये तथा फिर क्यों प्रकट हुए और क्यों रासलीला दिखलाई—इन सब की कुछ-कुछ व्याख्या इसमें है।

३-४—अनेकार्थमंजरी और नाम-माला

'अनेकार्थमंजरी' या 'मान मंजरी' एक प्रकार के अमरकोश की भाँति

हिन्दी पर्याय-कोश है। जिसमें इस प्रकार के उदाहरण हैं—

जमल जगल, जुग-द्वद्व द्वै, उभय मिथुन बिबि बीय।
जुगल किशोर सदा बसौ 'नन्ददास' के हीय॥
सदन सद्म आराम, गृह, आलय, नियल स्थान।
भवन भूप वृष-भान के गई सहचरी त्यान॥

प्रत्येक दोहे मे प्रायः भगवत्लीला का संकेत या भगवन्नाम स्मरण अवश्य है। परन्तु कहीं-कहीं पृथक भी है—

नील कंठ केकी बरहि, शिखी शिखण्डी होय।
शिवसुत वाहन, अहिभषी, मोर कलापी सोय॥
नटत मयूर अटान चढ़ि अतिहि भरे आनन्द।
निसि-दिन उनये रहत है नवनीरद नद नन्द॥

५—रूपमंजरी

'रूपमंजरी' एक आख्यानक काव्य है। इसका कथानक अकबर की हिन्दूपत्नी रूपमंजरी का आधार लेकर भक्ति का रूपक देकर निर्मित हुआ है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' की रूपमंजरी (जो नन्ददास की सहचरी थीं) ही इसकी नायिका है। अकबर रूपी अपने अयोग्य पति को त्याग कर वह नन्ददास के यहाँ श्रीकृष्ण भगवान से मिलने नित्य आती थीं। नन्ददास जी वहाँ 'निपट निकट' गायन करते थे। अकबर के इसी रहस्य की जिज्ञासा करने पर नन्ददास तथा रूपमंजरी दोनों ने कुछ न कह कर शरीर त्याग दिया था।

६—रस मंजरी

यह नायक-नायिका-भेद का रीति-ग्रन्थ है जिनके कारण नन्ददास प्रारम्भिक रीति-कवि माने जा सकते हैं! इसमें नायक-नायिका के हाव-भाव आदि के लक्षणों की काव्य-चर्चा है। यह ग्रन्थ दोहे चौपाइयों में है।

७—विरह मंजरी

वह एक विरह-काव्य है, जिसमें विरहिणी गोपियों ने चन्द्र के प्रति अपना कृष्ण-वियोग निवेदन किया है। निष्कर्ष रूप में विरहावस्था स्वप्न है और उसी

में सब कष्ट मिलता है और जाग्रत हो जाने पर अर्थात् मिलन हो जाने पर फिर सुख ही सुख है। यह काव्य भी दोहे-सोरठे और चौपाइयों में है।

८—श्याम-सगाई

इसमें कृष्ण और राधा की सगाई (विवाह-सम्बन्ध) होने की कथा है। पहले यशोदा ने कृष्ण का विवाह राधा से करने का प्रस्ताव राधा की माता कीर्ति से किया—जो अस्वीकृत हुआ।

तदनन्तर कृष्ण-राधा के पारस्परिक प्रेम-वर्णन के उपरान्त ही कीर्तिजी ने राधा की सगाई करना स्वीकार किया। १८ रोला दोहों मे यह काव्य लिखा गया है।

९—रुक्मिणी-मंगल

इसमें कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह (या हरण) की कथा वर्णित है। यह प्रचलित कथा है। यह मंगल-काव्य १३१ रोला छन्दों में है।

१०—भाषा दशम स्कन्ध

जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम २८ अध्यायों का भाषानुवाद है। अनुवाद शाब्दिक न होकर भाविक है। यह ग्रन्थ दोहे-चौपाइयों में लिखित है।

११—भ्रमर-गीत

'भ्रमर-गीत' का विषय हिन्दी के भक्ति-काव्य में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरहणी गोपियों ने उद्धव के द्वारा कृष्ण को जो प्रेमोपालम्भ दिया है वह भ्रमर-गीत नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सूरदास ने इस पर सैकड़ों गीत रचे हैं। उनके तीन भ्रमर-गीत मान्य हैं।

नन्ददास के भ्रमर-गीत (या भँवर गीत) में उद्धव और गोपियों का कथोपकथन शास्त्रीय वाद-विवाद से पूर्ण है जैसे दो पंडित निर्गुण-सगुण मार्ग पर शास्त्रार्थ कर रहे हों।

'भ्रमर-गीत' में ७५ पद हैं जो रोला, दोहा और एक तीसरे छंदांश के संयोग से बनाये गये हैं।

इसके अतिरिक्त सुदामा-चरित्र और पदावली भी इनकी कृतियाँ मानी जाती हैं।

(ख) काव्य-समीक्षा

ब्रजभाषा-काव्य-मर्मज्ञ श्री वियोगी हरि ने लिखा है-'अष्टछाप' में यदि सूरदास सूर्य हैं, तो नन्ददास निश्चय ही चन्द्रमा हैं। 'अष्टछाप' के कवि (सूरदास, कृष्णदास, कुम्भनदास परमानन्दनदास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, और छीतस्वामी) हिन्दी के ब्रजभाषा-काव्य में और विशेषत: कृष्ण भक्ति-काव्य में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। इनमें नन्ददास का स्थान सूर के पश्चात् ही है। इस तुलना से नन्ददास के कवि-रूप की महत्ता का कुछ आभास मिल सकता है!

नन्ददास के ग्रन्थों में 'रास पंचाध्यायी' और 'भ्रमर-गीत' उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इन दो के कारण ही नन्ददास अधिक प्रसिद्ध हैं और इन दो मे ही उनके काव्य की परिपूर्णता मिलती है।

रास-पंचाध्यायी

श्रीमद्भागवत् वैष्णव कृष्ण-भक्तों का सर्वस्व है। इसमें विष्णु भगवान् के अवतारों की लीला वर्णित है। श्रीकृष्ण की लीला इनके ९० अध्यायों में है, जिनमें से ५ अध्याय (२९ से ३३ तक) कृष्ण और गोपियों की रास लीला के हैं। पांच अध्यायों के कारण इसे 'रास पंचाध्यायी' संज्ञा दी गई है।

कविवर नन्ददास की 'रास-पंचाध्यायी' काव्य-कृति का आधार भागवत के ये ही पांच अध्याय हैं। 'रास-पंचाध्यायी' शाब्दिक अनुवाद नहीं, भाविक य स्वच्छन्द भावानुवाद है।

भागवत के अनुसार रास-लीला की कथा यों है—

शारदीय पूर्णिमा की रात्रि के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने मुरली बजाकर गोपियों का आह्वान किया। गोपियाँ भी सभी सांसारिक कर्मों का त्याग कर

व्यग्रता के साथ वहीं जा पहुँची। श्रीकृष्ण ने उनकी प्रेम-परीक्षा लेने के लिए उन्हें घर लौट जाने के लिए उपदेश दिया, पर जिन्होंने सभी सांसारिक संबंध, मोह आदि छोड़कर सन्यनिष्ठा से श्रीकृष्ण के प्रति एकांत अनुव्रत ले लिया था वे किस प्रकार लौट सकती थीं? इस प्रकार उन व्रज-बालाओं को अपने प्रति आकृष्ट देखकर अनाकृष्ट भगवान श्रीकृष्ण उनके साथ क्रीड़ा करने लगे। गोपियों में श्रीकृष्ण को विहार करते पाकर अहंकार उत्पन्न हुआ कि वे श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रिय हैं पर भगवान उनके इस अहंकार को दूर करने के लिए तत्काल ही अंतर्हित हो गये।

श्रीकृष्ण के साथ विहार करते समय ब्रजाङ्गनाएं उनमें हास-विलास, वार्तालाप, नृत्य आदि में इतनी तन्मय हो रही थीं कि वे कृष्ण-मय हो गईं। प्रेमोन्माद में वे अपने ही को कृष्ण समझकर उनका अनुकरण करने लगीं। फिर वे वनों में कृष्ण को खोजने लगी और जो सभी में व्याप्त हैं उसका पता वृक्ष, पशु आदि से पूछती फिरने लगीं। उनके मन में भगवान के न मिलने पर गृह लौटने का ध्यान भी नहीं गया। उनमें संसार के प्रति कुछ भी मोह रह ही नहीं गया था। अन्त में, बहुत खोजने पर श्रीकृष्ण के चरण-चिन्ह मिले और इसके अनंतर श्रीराधिकाजी मिलीं। अब वे सब पुनः श्रीकृष्ण को खोजने लगीं। अन्त में, उनके न मिलने पर वे उच्च स्वर से रुदन करने लगीं और उनकी लीलाएं गाने लगीं।

इस प्रकार इनका रुदन सुनकर भगवान श्रीकृष्ण उन्हीं के बीच में प्रकट हो गये। गोपियाँ मदनमोहन श्रीकृष्ण को पाकर परम आह्लादित हुईं और उनके साथ यमुना-तट पर जाकर विहार करने लगीं। कुछ वार्तालाप के अनंतर रास-मंडल रचा गया और प्रत्येक गोपी के साथ एक एक श्रीकृष्ण प्रकट होकर नृत्य करने लगे। रासलीला समाप्त होने पर प्रातःकाल सभी गोपियाँ अपने गृह लौट गईं और किसी ने भी उन पर शंका नहीं की।

(वस्तु-सार)

"रास-पंचाध्यायी" के कवि ने उक्त भागवतीय कथा को अपनी कृति में यह रूप दिया है—

(प्रथम अध्याय)

भागवतकार श्री मुनि शुकदेव शुद्ध ज्योति रूप हैं, जिनकी अतुलित महिमा और शोभा है। (यहां शुकदेव का नखशिख वर्णन है)

उन्होंने संसार के अन्धकार को दूर करने के लिए भागवत की सृष्टि की, जो अद्भुत चन्द्रमा की भाँति है, भागवत में श्री 'रास-पंचाध्यायी' अत्यन्त रहस्यमय है जैसे तन मे पंच-प्राण।

वृन्दावन (रास लीला की भूमि) की महिमा महनीय है जहाँ सत्र द्रुम जाति 'कलप द्रम सम सत्र लाइक' है और 'चितामनि समभूमि सबन चितन फलदायक' हैं। यहो यमुना है—जहाँ रसिकेन्द्र ब्रजराजकुंवर कृष्ण कमल-कर्णिकी छाया में विराजते हैं—जहाँ चन्द्रमा की धवल ज्योत्स्ना निखरी बिखरी है ! इस वृन्दावन की शोभा पर बैकुण्ठ भी निछावर है।

यहीं एक शारदीया पूर्णिमा की रात्रि मे रास का महापर्व आया—

ताही छिन उडराज उदित रसराज सहाइक !
कुंकुम-मंडित पिया बदन जनु नागर नाइक ॥

उस अनिर्वचनीय नैसर्गिक सुषमा में जब मायामय कृष्ण ने अपने कर कमलों में योग माया सी मुरली उठाई और बजाई तो—

सुनत चलीं ब्रजवधू गीत धुनि को मारग गहि।
भवन भीति द्रम, कुंज पुंज कित हूँ अटकी नहिं ॥

क्योंकि कृष्ण का विरह-दुख ऐसा था कि 'कोटि बरस लगि नरक भोग अघ भुगते छिन में।' अत: 'ते पुनि तिहि मग चली रंगीली तजि गृहसंगम। जनु पिंजरन तैं छुटे घुटे नव प्रेम-विहंगम।'

कृष्ण ने भी जब उन प्रेमातुर गोपियों को आते देखा तो—

तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाये।
तब हरि के मन नैन सिमिटि सब श्रवननि आये ॥

रुनुक झुनुक पुनि छबिली भाँति सब प्रगट भईं जब।
पिय के अंग अंग सिमिटि मिले छबिले नैननि तब॥

कृष्ण ने उनका सादर स्वागत किया और उन्होंने कृष्ण को घेर लिया। पहिले तो कृष्ण ने कुछ प्रेम व्यंग्य किया, जिससे वे दुःखित हुईं परन्तु उनके दुःखपूर्ण वचन सुनकर उनका नवनीत-सदृश हृदय पिघल उठा और—

बिहंसि मिले नन्दलाल, निरखि ब्रजबाल विरह बस।
जदपि आतमाराम रमत भये परम प्रेम रस॥

गोपियों से मिलकर कृष्ण बन में विहार करने लगे। जहां प्रकृति की ऐसी शोभा-श्री थी—

कुसुम धूरि धूँधरी कुंज छबि पुंजन छाई।
गुंजत मंजु अलिंद बीन जनु बजत सुहाई॥
इत महकति मालती चारु चम्पक चित चोरत।
उत घनसार-तुषार मिली मन्दार झकोरत॥
इत लवंग नवरंग एलची झेलि रहीं रस।
उत कुरबक केवरा केतकी गन्ध बन्ध बस।
इत तुलसी छबि हुलसी छांड़ति परिमल लपटैं।
उत कमोद आमोद गोद भरि सुख की दपटैं॥

वहां रास भी मादक मोहक होने लगा, जिस की एक झलक यों हैं—

विलसत विविध विलास हास नीबी-कुच परत।
सरसत प्रेम अनंग रंग नवघन ज्यौं बरसत॥

इसी समय कृष्ण—लीला करने के लिए—
मंजु कुंज में तनक दुरे अति प्रेम भरे हिय।

(दूसरा अध्याय)

जिस प्रकार मीठा खाते-खाते मन भर जाता है और नमकीन, कड़वा, तीखा रुचिकर होने लगता है इसी प्रकार प्रेम में भी संयोग के उपरान्त थोड़ा

वियोग रुचिकर होता है और इससे प्रेम अधिक पुष्ट होता है। ब्रजबालायें भी श्रीकृष्ण के अधिक समागम से इतनी प्रेमाविष्ट हो गई थीं कि श्रीकृष्ण को न देखकर वे महानिधि पाकर खो-बैठे हुए निर्धन की भाँति पीड़ित हो उठीं।

उस विरह-वेदना में वे विमूढ़ होकर लता-कुंज से प्रिय का पता पूछने लगी, क्योंकि 'को जड़ को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन'। मालती, जाति, यूथिका, केतकी, मुक्ता, मन्दार, करबीर, चन्दन, कदम्ब, बिम्ब, अम्ब, अशोक, पनस और पवन, यमुना, कमल, पृथ्वी, तुलसी न जाने किन किन से जब कृष्ण का पता वे न पा सकीं तो निराश हो गईं और उनका प्रेमावेश और भी बढ़ गया।

अब उनका अहंभाव दूर हो गया। वे कृष्ण-रूप होकर कृष्ण में ही तन्मय हो 'उन्मत की नाईं' उन्हीं की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। अब वे 'कृष्ण भगति ते कृष्ण' हो गईं।

इसी समय उन्हें श्रीकृष्ण के चरण-चिह्न दिखाई दे गये और वहीं 'प्यारी तिय' (राधा) के चरण-चिह्न भी। वहीं उन्हें 'बेनी-गुहन' के चिह्न भी मिले। परन्तु उन्हें कोई ईर्ष्या नहीं हुई क्योंकि वे लौकिक राग-द्वेष से ऊपर उठ गई थीं—

धन्य कहत भईं ताहि नाहिं कछु मन मैं कोपी।
निरमत्सर जे सन्त तिन कि चूड़ामनि गोपी॥

उन पद-चिह्नों का अनुकरण करती हुई वे आगे बढ़ीं, जहाँ राधा अकेली महाविरह में डूबी रो रही थी। उसे खोई हुई महानिधि का आधा अंश मानकर, उसे साथ लेती हुई वे यमुना-तट पर आ पहुँची।

(तीसरा अध्याय)

इसके पश्चात् तो विरह-वेदना का सागर ही उमड़ पड़ता है। ब्रजबालाओं की दुःखभरी वाणी रसिकों के मर्म को विद्ध कर लेती है।

(चतुर्थ अध्याय)

गोपियों की विरहाकुलता को न सहकर अन्त में 'मनमथ के मनमथ' कृष्ण पीताम्बर, वरमाला और मुरली के साथ प्रकट हो गये। अब तो वे सब की सब उठ खड़ी हुईं—'घट आये ज्यौं प्रान बहुरि उझकत इन्द्री ज्यो'।

अपने प्रियतम कृष्ण से सब अंगों से मिलकर वे पुनः प्रेम-क्रीड़ा करने लगीं,

कोउ चटपटि सौं कर लपटी कोउ उर-बर लपटी।
कोउ गर लपटी कहति भले जू कान्हर कपटी ॥
कोउ नागर नगधर की गहि रही दोउ कर पटकी।
जनु नव घन तें सटकी दामिनि अटकी ॥
कोउ प्रिय भुजन सों लपटी मटकी नाहिं नबेली।
जनु सुन्दर सिंगार विटप लपटी छवि बेली ॥
आदि आदि।

प्रेम-क्रीड़ा से पूर्णकामा हो कर वे कृतकृत्य हो गईं उनसे प्रणयोपालम्भ सुनकर कृष्ण ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की और क्षमा-याचना की। कृष्ण की यह प्रशंसा उन्हें मिली—

तुम जो करी सो कोउ न करै सुनि नवलकिशोरी।
लोक-वेद की सुदृढ़-सृङ्खला तृन सम तोरी ॥

(पाँचवा अध्याय)

तदनन्तर अन्तिम महारास हुआ—जिसकी एक झलक यों है—

नव मरकत मनि स्याम कनक मनिगन ब्रजबाला।
वृन्दावन कौं रीझि मनहुँ पहिराई माला ॥

गान नृत्य से समचित उस रास में—

नूपुर, कंकन, किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग, उपंग, चङ्ग एकहि सुर जु रली ॥
मृदुल मुरज टंकार, तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि ॥

तैसिय मृदु पद सटकनि चटकनि करतारनि की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुंडल हारनि की॥

अनेक प्रकार के हाव-भाव, लीला-विलास इस रास में हुए—उसमें जो आनन्द स्रवित हुआ उससे—

पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उड़मंडल सगरौ।
पाछे रवि-रथ थक्यौ चल्यौ नहिं आगे डगरौ॥
रीझि सरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी।
बिलसत रजनी स्याम जथा रुचि अति रति गाढ़ी॥

रात्रि भर यह रास-विलास होता रहा और अन्त में—

ब्रह्म मुहूरत कुँवर कान्ह बर घर आये जब।
गोपन अपनी गोपी अपने ढिग मानी तब॥

यह कृष्ण गोपी-रास नित्य है—

नित्य रास रमनीय, नित्य गोपी जन वल्लभ।
नित्य निगम यों कहत, नित्य नव तन अति दुर्लभ॥

ऐसा यह रास चिर वन्दनीय, स्मरणीय है। इसकी महिमा अवर्णनीय है। यह 'ज्ञान सार हरि-ध्यानसार श्रुति सार' है।

'रास पंचाध्यायी' काव्य श्री मद्भागवत के अन्तर्गत वर्णित कृष्ण की रास-कथा के आधार पर रचित है। परन्तु नन्ददास जी ने 'रास-पंचाध्यायी में इस कथा को किंचित् परिवर्तित और परिष्कृत रूप दिया है।

आरम्भ में शुकदेवजी की वन्दना, भक्ति आदि का माहात्म्य है। फिर वृन्दा-वन महिमा वर्णित है। शरद-वर्णन विशद है। यह सब मौलिक है।

मुरली-वादन सुनकर जब ब्रजवालायें अपने अपने गृहों के कार्यों को छोड़कर वन की ओर भागती हैं तो वहाँ केवल उनकी विरहाकुलता तथा 'मिलनातुरता का ही वर्णन किया गया है वे जिन-जिन कार्य्यों को छोड़कर भागती हैं इसकी सूची काव्योचित न होने के कारण छोड़ दी गई है।

कृष्ण-गोपी मिलन का प्रसंग जहाँ भागवत में एक ही श्लोक में हैं वहाँ रास पंचाध्यायी में विस्तार से वर्णित है।

तत्पश्चात्, श्रीकृष्ण के ब्रजबालाओं पर मुग्ध होने का भी विशद वर्णन है।

गोपियों के दुखी होने तथा प्रणय-कुपित उत्तर देने का वर्णन 'रास पंचाध्यायी' में संक्षिप्त कर दिया गया है।

गोपियों की कातरोक्ति और श्रीकृष्ण का वन-विहार भागवत से पर्याप्त स्वतन्त्र रूप में किया गया है।

कामदेव का आगमन, मूर्च्छा, रति का उसे उठाकर ले जाना आदि नन्ददास जी की मौलिक कल्पनायें हैं। महारास का वर्णन नन्ददास ने चित्रोपम रीति से किया है। इस वर्णन पर जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' का प्रभाव है।

'रास-पंचाध्यायी' एक अध्यात्मिक विषय की कृति है। इसलिए इसके प्रतीक भी अध्यात्मिक हैं।

'लीला' और 'रासलीला'

'लीला' का सामान्य अर्थ क्रीड़ा (खेल) है। साहित्य (शास्त्र) में लीला एक हाव है—"विरह काल में समय-यापनार्थ नायिका द्वारा अपने प्रिय के अंग-विक्षेप, वेष, भूषा, आभूषण, वार्तालाप आदि का अनुकरण 'लीला' है—

अंगैवषरलंकारैः प्रेमभिर्वनैरपि।
प्रीति प्रयोजितैलीला प्रियस्यानुकृतिं विदुः॥—साहित्य-दर्पण

धार्मिक भक्ति भावना में लीला का एक विशिष्ट अर्थ है। ईश्वर की लीला का अर्थ है ईश्वर की रहस्यपूर्ण क्रीड़ा। जब कोई संघटना मानव बुद्धि के परे घटित होती है तो उसे सामान्यजन ईश्वरीय लीला कह देते हैं। देवोपम महापुरुषों के चरित्र (अथवा उनके अभिनय) भी 'लीला' कहे जाते हैं। (रामकृष्ण लीला)।

× × × ×

'लीला' का व्युत्पत्ति-जनित अर्थ है—लीयमलातीति लाली। ली का अर्थ है जोड़ना, मिलाना, पाना या लीन होना, ला का अर्थ है देना-लेना। दोनों का

संयुक्त अर्थ है—लीन होने को अङ्गीकार करना। वेदान्त-सूत्र के अनुसार "लोकस्तु लीला कैवल्यम्"–अर्थात् यह लोक केवल (ईश्वरीय) लीला के लिए है। कैवल्य का अर्थ है मुक्ति या मोक्ष। अत: यह लोक ईश्वरीय लीला के ही लिए नहीं है वरन् वह मोक्ष (मुक्ति) के लिए भी है।

भक्तों के अनुसार ईश्वर या भगवान् पृथ्वी पर अवतार लेकर इसलिये लीला करता है कि वह मानव मात्र पर अपनी दया दिखलावे। जो लोक भगवान् की लीला का क्षेत्र है वही मानव के लिये कर्म का क्षेत्र भी। लीला ईश्वर की दृष्टि से तो एक क्रीड़ा है, विलास है, परन्तु मनुष्य की दृष्टि से मोक्ष का एक साधन या मार्ग है !

इन्हीं कारणों से भक्तों के लिए भगवान् का प्रत्येक क्रिया-कलाप 'लीला' है। कृष्ण की दान-लीला, श्री माखन लीला, गोचारण लीला, चीर-हरण लीला, गोवर्धन लीला, रास लीला, प्रसिद्ध हैं और भक्तों के लिये तो वे परम आनन्द की भाव-भूमि हैं।

भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ शारदीया रात्रि को नृत्य-गान की लीला की थी। यही लीला 'रास' लीला कही जाती है।

'रास' की व्युत्पत्ति रस से है। रस क्रिया का अर्थ है आस्वादन करना, प्रेम करना। 'रस' संज्ञा का अर्थ है मीठा खट्टा आदि ६ रस या शृङ्गार आदि ९ रस और वस्तुत: रस का अर्थ जल, द्रव पदार्थ या निचोड़ है।

रास का अर्थ है कोलाहल, विलास, वाणी शृङ्खला तथा गानयुक्त गोलाकार नृत्य। गोल (घेरा) बांधकर किये नृत्य में स्त्री पुरुषों का सहयोग ! कोलाहल, विलास, माधुर्य और आनन्द का स्रष्टा है अत: 'रास' इसी समन्वित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है !

रास के आनन्द का वर्णन

सत्वोद्रेकादकंडस्वप्रकाशानंद चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोहरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चिप्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्ये मायमास्वाद्यते रसः॥

(रजोगुण तमोगुण के ऊपर) सत्वगुण के उद्रेक के अखण्ड प्रकाशयुक्त आनन्द एवं चमत्कारपूर्ण अन्य विषयों के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म प्राप्ति के आनन्द से सहोदर का, तथा लोकात्तश्चमत्कार से अनुप्राणित कोई कोई ज्ञाता, अपने आकार की भांति अभिन्न रूप से 'रस' (आनन्द) प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि, सत्-चित्-आनन्दमय विषयातीत अलौकिक चमत्कारपूर्ण आनन्दों (रसों) का समुच्चय ही 'रास' है। इसका आस्वादन ऐसे कोई कोई ज्ञाता ही करते हैं जिनमें पूर्व संस्कार होते हैं और जो उसमें तन्मय हो जाते हैं।

भक्तिवादी भक्तों का विश्वास है कि भगवान् अपनी लीला-शक्ति से पृथ्वी पर मानवों के बीच अवतार लेकर जीवों के मोक्ष के निमित्त भक्ति का मार्ग दिखाते हैं तथा भक्त भगवान् की उस सौन्दर्य-माधुर्य मंडित-मूर्ति के प्रति ऐसे अनुरक्त, आसक्त हो जाते हैं कि उन्हें भगवान् के दर्शन के आगे ससार के समस्त सुख तथा पारलौकिक मुक्ति, कैवल्य आदि भी हेय प्रतीत होने लगते हैं।

आनन्द की इस तन्मयता में जो कुछ भी लौकिक क्रिया-कलाप होते हैं वे सब पवित्र ही हैं और विधि-निषेध के बन्धनों से परे हैं।

रास लीला प्रकृति और पुरुष या हरि तथा माया का नर्तन है। केन्द्र में माया-पुरुष है और चारों ओर माया-पुरुष का परिभ्रमण है। जैसे अणु के चारों ओर अणु घूमते हैं उसी प्रकार सारी सृष्टि हरिरूपी केन्द्र के सब ओर नर्तन करती है। माया दो हैं—विद्या-माया और अविद्या-माया। राधा विद्यामाया है; हरि की आह्लादिनी शक्ति और गोपियाँ आदि अविद्यामाया हैं। राधा, गोपियों और भगवान् कृष्ण की रास क्रीड़ा स्थूल लौकिक दृष्टि से काम-क्रीड़ा है परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह आत्मा-परमात्मा के संयोग की लीला है यही इस लीला का रहस्य है।

"रास-पंचाध्यायी" का भाव-तत्त्व

'रास-पंचाध्यायी' एक कृष्ण-भक्ति प्रधान काव्य है। इसकी वर्ण्य वस्तु कृष्ण की ललित लीला है, जिसको हिन्दू समाज ने विशेषकर वैष्णव भक्तों ने ईश्वर का अवतार माना है।

नारदीय 'भक्ति-सूत्र' में ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग भक्ति है—"भक्तिः महानुरक्तिरीश्वरे" और इसके उदाहरण के लिये 'व्रजगोपिकादिवत्' (व्रज-गोपिकाओं की भाँति) कहा है। राधा-कृष्ण की उपासना भक्तों के लिये आदर्श है। कृष्ण-भक्तों की यह भक्ति प्रेमा भक्ति है, जिसमें कृष्ण (ईश्वर) प्रणय (प्रेम) प्रधान भक्ति के आलम्बन हैं।

प्रणय प्रधान होने के कारण इस प्रेमाभक्ति में लौकिक पुट रहता है, परंतु दृश्यमान् लौकिकता में, अदृश्यमान् अलौकिकता है। यह प्रीति देह की नहीं, आत्मा की है। भक्ति-गत प्रेम शुद्ध, निर्विकार, श्रद्धा-पूजाभाव समन्वित और सात्विक है।

जैसे भगवान् प्रकट होकर भी अप्रकट और अप्रकट होकर भी प्रकट है वैसे ही परमेश्वर की लीला और उसकी प्रीति भी—व्यक्त और अव्यक्त है।

हरि-लीला दुर्ल्ललितादभुत है: अदभुत वह ऐसी है कि नितान्त लौकिक और वैषयिक प्रतीत होती है—परन्तु वस्तुतः वह पारलौकिक और पवित्र है। पात्र के अनुसार यह लौकिक जनों को भिन्न भिन्न रूप में दिखाई देती है—

> अमल अनूप रूप हरि लीला,
> स्वाति बिन्दु जल जैसे।
> भगवतरसिक विषमता नाहीं,
> पात्र-भेद गुन तैसे।

हरि भक्तों को हरिलीला में अलौकिकता पवित्रता दृष्टि-गोचर होती हैं किन्तु अन्य जनों को उसमें लौकिकता और विकार-वासना प्रतीत होती है।

जैसा कि कहा जा चुका है—माया द्विविधा है–विद्या-माया और अविद्या-माया। राधा विद्यामाया की और गोपियाँ (भक्त आत्मायें अविद्यामाया) की प्रतीक, प्रतिनिधि हैं।

जब हरि लुप्त हो जाते हैं तो इसका पता माया या प्रकृति भी न बता सकी क्योंकि हरि माया या प्रकृति से परे हैं। हरि ने जब राधा का त्याग किया है और राधा भी वियोग व्यथिता है तो समस्त प्रकृति उसके साथ रोती है।

कारण यह है कि राधा आह्लादिनी शक्ति (माया) है अतः सारी चराचर प्रकृति उसके साथ दुःखी है।

ब्रह्म और असंख्य जीवो—या कृष्ण गोपियों के इस रास में प्रकृति सहयोग देती है। जल क्रीड़ा के व्याज से गोपियां (आत्माओं) को कृष्ण ने रस-स्नान कराकर शुद्ध किया और उन्हें दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित किया, ये वस्त्राभूषण उनकी आज्ञा से एक वृक्ष देता है। यह संकेत लीला की अलौकिकता का ही है।

गोपियों के गर्व को मिटाने के लिये हरि पहिले उन्हें त्याग देते हैं और उन्हें वियोग व्यथित करते हैं। जब वे गर्व रहित हो जाती हैं तब हरि प्रकट होते हैं।

मुरली-सम्मोहन से खिचीं आई हुई गोपियों से कृष्ण पूछते हैं कि वे क्यों आई हैं तो वे उत्तर देती हैं कि आपने स्वयं ही वेणु बजाकर सम्मोहन किया है फिर यह प्रश्न क्यों पूछते हैं ?

वेणु

वेणु का अर्थ है व+ह+अणु जिसके समक्ष सारा संसार अणु मात्र है—इसलिए वह नाद—ब्रह्म का प्रतीक है, जिसके आगे समग्र समार अणुमात्र है। इसी कारण वेणु में विश्व विमोहिनी शक्ति है जिसका विमोहन प्रभाव अद्भुत है—

सुन पृ०—८ पर ४६ और ५० वे पद

स्पष्ट शब्दों में कवि ने मुरली को अघटित घटना चतुर और योग माया कहा है—

तब लीनी कर-कमल जोग माया सी मुरली।
अघटित घटनाचतुर बहुरि अधरासव जुरली॥

और उसका विमोहन प्रभाव भी अद्भुत है—

सुनत 'चली' ब्रजबधू गीत धुनि कौ मारग गहि।
भवनभीति द्रुम कुंज पुंज कितहू अटकीं नहि॥
ते पुनि तिहि मग चलीं रंगीली तजि गृह-संगम।
जनु पिंजरन तैं छुटे—घुटे नव प्रेम-बिहंगम॥

कारण यही है कि—

नाद-अमृत को पंथ रंगीलो सूच्छम भारी ।
तिहि मग ब्रज-तिय चलीं आन कोउ नहिं अधिकारी ।।

वस्तुत: उस रहस्य का उद्घाटन कवि ने स्पष्ट शब्दों में किया है—

जाकी धुनि तैं निगम आगम प्रगटित बड़ नागर ।
नाद ब्रह्म को जननि मोहिनी सब सुख-सागर ।।

और इसलिए शुद्ध प्रेम रूपिणी पंचभूत से अतीत गोपियाँ ही इसे सुन सकती हैं ।

प्रेमाभक्ति के तत्त्व

प्रेमाभक्ति के विविध तत्त्व कवि नन्ददास ने 'रास पंचाध्यायी' में स्पष्ट किये हैं ।

(क) प्रेमाभक्ति लौकिक धर्मों से ऊपर है

सांसारिक धर्म-कर्म जप-तप व्रत नियम आदि साधनों के फल ईश्वर प्राप्ति है और जब फल प्राप्ति हो जाय तो धर्म-कर्म की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । जैसे सिद्धि के अनन्तर साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती । कृष्ण से मिलने पर गोपियाँ यही तो तर्क करती हैं ।

धर्म, नेम, जप-तप, व्रत सब कोउ फलहिं बतावै ।
यह कहुँ नाहिन सुनी, जुफल फिरि धर्म सिखावै ।।

फिर कृष्ण का मोहन रूप तो धर्म के धर्म को भी मोहित कर देता है ।

अरु तुम्हारों यह रूप धर्म के धर्महिं मोहै ।
घर में को तिय-धर्म मर्म या आगे कोहै ।।

प्रेमाभक्ति का यही रहस्य है । वह लोक-नीति, लोक-धर्म से अतीत अलौकिक है ।

प्रेमाभक्ति में संयोग-वियोग की दशायें

प्रेमाभक्ति प्रकट में लौकिक प्रेम-प्रणय की भाँति हैं जिसमें शारीरिक भोग और वासना का पूर्ण पुट है । (यद्यपि उसका साध्य आध्यात्मिक प्रेम ही है) । इसका परिचय 'रास पंचाध्यायी' में प्रचुर रूप से मिलता है—

१—प्रेम (संयोग) के लिए प्राकृतिक उद्दीपन और सम्मोहन अपेक्षित है। इसलिए पंचाध्यायी में शरद-रजनी की सुषमा चित्रित है—

ताही छिन उडराज उदित रस-रास सहायक।
कुमकुम मंडित प्रिया बदन जनु नागर नायक॥

वन-विहार के दृश्य भी कामरंजित है—

कुंजनि कुंजनि डोलनि मनु घन तें घन आवनि।
लोचन तृषित चकोरन के चित चोप बढ़ावनि॥

और

विलसत विविध विलास हास नीवी कुच परसत।
सरसत प्रेम अनंगरंग नव घन ज्यौं बरसत॥

अन्तिम रास में भी—

ताहि साँवरो कुँवर रीझि हँसि लेत भुजनि भरि।
चुम्बन करि सुख-सदन बदन तें दै तमोल ढरि॥

और इस प्रेम क्रीड़ा मे रात्रि भी पूरा सहयोग करती है—

थकित शरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी।
विहरत सजनी श्याम जथारुचि अति रति बाढ़ी॥

विरह बियोग के चित्र भी बड़े मर्म वेधी हैं। प्रियतम कृष्ण के दृष्टि से ओझल होते ही गोपियों की सहज विकलता देखिए—

थकि सी रहीं ब्रजबाल गिरिधर पिय बिनु यौं।
निधन महानिधि पाइ बहुरि ज्यों जाइ भई त्यौं॥
है गईं विरह विकल तब बूझत द्रुम वेली बन।
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन॥

यह विरह व्याकुलता हमें 'कालिदास के मेघदूत' का स्मरण दिला देती है—

''कामार्ताहि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु'' अर्थात्

कामातुर होत हैं सदा ही मति हीन, तिन्हें।
चेत ओ अचेत माहि भेद का लखावैगो॥

—(राजा लक्ष्मण सिंह)

और जिस प्रकार 'हनुमन्नाटक' के राम सीता के वियोग में वृक्ष बल्लरियों से पूछते है—

> रे वृक्षा पर्वंवस्था, गिरि गहनलता।
> वायुनावीज्य मोना ॥
> रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनय।
> शोक तापे नदग्धा ॥
> बिम्ब्रोष्टी चारु नेत्री सुविपुल जघना।
> बद्धनागेन्द्रकाँची ॥
> हा सीता ! केन सीता। ममहृदयगता।
> को भवान् केन दृष्टा ॥

और तुलसीदाससीय रामायण के राम पुकारते हैं।

> हे खग हे मृग मधुकर स्रेनी !
> तुम देखी सीता मृग नैनी ॥

उसी प्रकार विरह-विकला गोपियाँ भी कृष्ण का पता द्रुम बेली बन से पूछती हैं :—

> हे मालति, हे जाति ! जूथिके। सुनियत दै चित।
> मान हरन, मनहरन गिरिधन व लाल लखे इत ॥
> हे केतकि ! इत कितहु तुम चितये पिय रूसे।
> किधौं नंदनदन मंद मुसकि तुमरे मन मूसे ॥

गोपियाँ विरह-विह्वल होकर कल्पना करती हैं और हरि प्रकट हो जाते हैं—यह व्यंजित करता है कि हरि कहीं गये न थे, केवल गोपियों की लौकिक दृष्टि में अदृश्य अलक्ष्य हो गये थे।

गोपियों के साथ रास क्रीड़ा मे हरि प्रत्येक गोपी के बिछे हुए वसन पर बैठे दिखाये गये हैं—इससे यह व्यंजित होता है कि योगीजन जिन हरि को पाने की कठिन साधना करते हैं वे हरि गोपियों के साथ प्रेम-सम्बद्ध हैं। यही प्रेमा भक्ति का सुप्रभाव है।

रास-क्रीड़ा के पश्चात गोपियो को दिव्याभूपण प्राप्त हुए हैं—यह गोपियों के दिव्य रूपा होने की व्यंजना है।

भँवर-गीत (भ्रमर-गीत)

भ्रमर-गीत परम्परा

भ्रमर-गीत परम्परा का मूल श्रीमद्भागवत है। भागवत के दशम स्कन्ध के ४६-४७ अध्यायों के अनुसार भ्रमर-गीत की कथा का आधार यह है—

जब कृष्णचन्द्र अत्याचारी राजा कंस का वध, राजा उग्रसेन का उद्धार आदि कर चुके और मथुराधिपति होकर रहने लगे, तो उन्होंने वृष्णियों के मंत्री, वृहस्पति के शिष्य और अपने सुहृद उद्धव को अपने (पालक) माता-पिता यशोदा और नन्द तथा गोपियों का कुशल-क्षेम लाने एवं उनके मनस्ताप को दूर करने के लिए गोकुल में भेजा।

उद्धव का स्वागत-सत्कार हुआ, तत्पश्चात् उन्होंने नन्द-यशोदा को सांत्वना दी। प्रात:काल गोपियों ने उद्धव के रथ को देखा और उद्धव से भेंट की। उद्धव का रूप कृष्ण का सा था:—

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं ब्रजस्त्रियः
प्रलम्बबाहुं नवकंजलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्
मुखारविन्दम् मणिमृष्टिकुण्डलम्।

गोपियों और उद्धव की वार्ता एकान्त में आरम्भ हुई। गोपियों ने कृष्ण के प्रेम पर उपालम्भ दिये। उन्हें स्वार्थ-परायण बताया और भ्रमर को उनका उपमान कहा। भ्रमर फूलों का अनुरागी है, एक का नहीं अनेक का। उसका किसी एक फूल से अनन्य प्रेम नहीं होता, वरन् वह क्षणभर रस लेकर उड़ जाता है। इस प्रकार भ्रमर से उपमा देकर कृष्ण को उपालंभ देना अनुचित न था।

इसी प्रसंग में वहां एक भ्रमर आ जाता है और गोपियों के पावों के पास गुंजन करने लगता है। अब तो गोपियाँ अन्योक्ति का अवलम्ब लेकर भ्रमर पर ही टूट पड़ी हैं—

"हे धूर्त के बन्धु मधुकर! तुम हमारे चरणों को मत छुओ। तुम्हारे श्मश्रुओं में, सौत के कुच-युगल में विहार करने वाली माला में लिप्त कुंकुम लगा हुआ है। मधुपति कृष्ण ही यादवों की सभा में उपहास कराने वाले इस प्रसाद को धारण करें, हम इस प्रसाद को नहीं चाहतीं। तुम्हारी और कृष्ण की मैत्री उचित ही है, क्योंकि जैसे तुम सुमनों का रस लेकर छोड़-छोड़ जाते हो वैसे ही कृष्ण भी हमें छोड़-छोड़ कर चले गये!"

भ्रमर का आलम्बन लेकर लिखे गये प्रेमोपालम्भपूर्ण इस अन्योक्ति में भ्रमर का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

तदनन्तर, गोपियों ने कृष्ण के पूर्व-अवतारों की भर्त्सना भी की। तत्पश्चात् उद्धव ने गोपियों के प्रेम की प्रशस्ति करते हुए उनके प्रति कृष्ण का यह सन्देश दिया—

"मेरा वियोग तुम्हें कभी नहीं हो सकता। मैं देहधारियों की आत्मा होने के कारण सदैव तुम्हारे पास हूँ। जैसे सोकर जगा हुआ व्यक्ति देखे हुए मिथ्या स्वप्न का चिन्तन करता है, वैसे ही जो मन इन्द्रियों के विषयों का चिंतन करता है तथा जो इन्द्रियों की उपलब्धि कराता है; उसी का दमन किया जाना चाहिए।'

गोपियां इस सन्देश से सन्तुष्ट हो जाती हैं, उन्हें भगवान् के उपदेश से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में, गोपियों को पूर्ण समाश्वासन और ज्ञान देकर उद्धव मथुरा लौट जाते हैं।

भागवत की इस कथा के आधार पर हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों ने काव्य-रचना की है। प्राचीन में सूरदास के तीन 'भ्रमर-गीत' ('सूरसागर' के अंग), नन्ददास का भ्रमर-गीत (या भँवरगीत) तथा हित वृन्दावनदास, प्रागन कवि और रघुराजसिंह के भ्रमर-गीत मान्य हैं। नवीनों में सबसे बृहद् प्रयत्न तो स्व० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी का 'उद्धव-शतक' है; परन्तु 'प्रिय-प्रवास' मे 'हरिऔध' जी ने भ्रमर गीत प्रसंग को राधा-उद्धव सम्वाद के रूप में

प्रतिच्छायित किया है; 'द्वापर' में मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी इसकी कुछ झलक दिखाई है और पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में। [पं० सत्य-नारायण कविरत्न ने भी नन्ददास जी की छन्द बन्ध शैली में भ्रमर-दूत लिखा है। परन्तु उसको भ्रमर-गीत नहीं कहा जा सकता।]

प्रस्तुत भ्रमर-गीत (भँवर-गीत)

(वस्तु-सार)

उद्धव गोपियों से एकान्त पाकर 'स्याम सन्देस' कहने की भूमिका प्रस्तुत करते हैं—कि श्याम का नाम सुनते ही गोपियाँ उनकी स्मृति से विह्वल हो उठती हैं—

सुनत स्याम कौ नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द-रस, हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सब अँग भये भरि आये जल नैन।
कठ घुटे गदगद गिरा बोल्यो जात न बैन॥

थोड़ी देर में गोपियाँ संभली और उद्धव ने फिर अपना ज्ञान-सन्देश कहना आरम्भ किया। वे 'मिलि हैं थोरे दिवस मे'·······ही कह पाये थे कि—

सुनि मोहन संदेस रूप-सुमिरन ह्वै आयौ।
पुलकित आननकमल अंग आवेस जनायो॥
विह्वल ह्वै धरनी परी ब्रजबनिता मुरझाय॥
दै जल छींट प्रबोधहीं ऊधौ बैन सुनाय॥

उद्धव गोपियों को वाणी से भी प्रबोध देने लगे (अपना ज्ञान-सन्देश उनके सामने प्रस्तुत करने लगे)—कृष्ण तुम सबसे दूर नहीं हैं, यदि ज्ञान की आँखों से देखो तो सारे विश्व में उनका रूप व्याप्त है। गोपियाँ यह उपदेश कैसे सह सकती थीं ? वे भी तर्क करने लगीं—किस ब्रह्म की ज्योति की तुम बात करते हो ! ज्ञान की टेढ़ी मेढ़ी चर्चा हमसे क्यों ? हमें तो 'प्रेम को मारग सूधो' चाहिए। उन्होंने तो अपनी रूप-सुषमा से, मुरलीमाधुरी से हमारी सारी सुध-बुध ही छीन ली है।

उद्धव कहते हैं, यही तो सगुण उपाधि (प्रपंच) है—ब्रह्म तो निर्गुण, निराकार, निर्लेप है। परन्तु गोपियों को किसी ज्ञानी का वाक्य-प्रमाण नहीं चाहिए। वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करती हैं । वे इसका बुरी तरह खंडन करती हैं। परन्तु उद्धव उसे विश्व-ब्रह्मांड-व्यापी कह कर योग से ही उसे पाने का आग्रह करते हैं। गोपियों का तर्क है कि योग हमारे योग्य नहीं है। हम तो प्रेम से उसे पा भी चुकी हैं। प्रेम-के आगे वे योग (तथा ज्ञान) की धूल हो हेय बनाती हैं। तब उद्धव कहते हैं कि कर्म ही इस विश्व में प्रधान है। उसी से जीव की उत्पत्ति और लय है। कर्म से ही मुक्ति मिलती है। गोपियाँ वितर्क करती हैं कि कर्म ही वह बेड़ी है जिससे स्वर्ग या नरक मिलता है। इसलिए इस प्रपंच में क्यों पड़ा जाय ? उद्धव कर्म-योग का पुनः उपदेश देते हैं—गीता के कृष्ण की भांति। इस पर ब्रजबालायें कहती हैं—यह अपनी अपनी रुचि की बात है—

जोगी जोगहि भजे भक्त निज रूपहि जानै।
प्रेम पियूषै प्रगटि स्यामसुन्दर उर आनै॥
निर्गुनि गुन जा पाइयै लोग कहै यह नाहिं।
घर आये नाग न पुजैं बाँबी पूजन जाहि॥

इस पर फिर निर्गुण-सगुण का विवाद चल पड़ता है। उद्धव का तर्क है कि हरि को वेद भी निर्गुण मान कर ही नेति-नेति कहता है उपनिषद् भी। परन्तु भोली ब्रजबालाओ का तो सीधा सा तर्क यह है कि—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते ?
बीज बिना तरु जमे मोहिं तुम कहौ कहाँ ते ?

उनके मत में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माया के दर्पण में पड़ता है और वह निर्गुण से सगुण बन जाता है : परन्तु उद्धव के मत में माया ब्रह्म से पृथक् है, दोनों को मिलाना अनुचित है (वेद भी यही कहते हैं)।

गोपियाँ, परन्तु, प्रेम-मार्ग पर दृढ़ हैं, उद्धव ज्ञान-योग-मार्ग पर। उनका विवाद दो भिन्न-भिन्न मार्गों के पंडितों का शास्त्रार्थ बन जाता

है । उद्धव कर्म पर बल देते हैं और प्रेम-भक्ति को भी उसी के अन्तर्गत बतलाते हैं—और कर्म का लगाव न छूटने का तर्क उपस्थित करते हैं। वे दिव्य दृष्टि की बात करते हैं—गोपियाँ प्रत्यक्ष दृष्टि का आश्रय लेकर कृष्ण को ही ब्रह्म सिद्ध करती हैं और अन्त में यहां तक कह देती हैं—

नास्तिक हैं जे लोग कहा जानैं निज रूपै ।
प्रगट भानु कों छाँड़ि गहत परछाईं धूपै ।।
हमरे तौं यह रूप बिन और न कछू सुहाय।
जो करतल आमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय ।।

इस प्रकार वाद-विवाद समाप्त हो जाता है—उद्धव निरुत्तर से रह जाते हैं।

(ख)—प्रेमोपालम्भ

इसके अनन्तर गोपियों का प्रेमी-रूप प्रकट होता है। कृष्ण का रूप उनकी आँखों के आगे आ जाता है और वे—

ऊधो सों मुख मोरिके कहत तिनिहिं सों बात ।
प्रेम अमृत मुख तें स्रवत अम्बुज नैन चुचात ।।

इसके उपरान्त उनका कृष्ण के प्रति तीव्र उपालम्भ प्रारम्भ होता है। यह उपालम्भ प्रेम-पूर्ण है। जैसे—

कोउ कहैं पिय दरस देहु तौ वेनु सुनावौ ।
दुरि दुरि बन की ओट कहा हिय लोन लगावौ ।
हमकों तुम पिय एक ही, तुमकों हम सो कोरि ।
बहुताइत के रावरे प्रीति न डारौ तोरि ।।

कभी-कभी वह दीनता से प्रेरित भी है। वे कृष्ण के पूर्व रूपों (अवतारों) की करतूतों की आलोचना करती हैं। उन्हें सब रूपों में निष्ठुर, कठोर स्वार्थी, कपटी, छली बताती हैं।

इस प्रकार हरि-स्मरण के ब्याज से वे प्रेमानुरक्त हो उठीं और—

देखत इनको प्रेम नेम ऊधो को भाज्यो ।।
तिमिर भाव आवेस बहुत अपने जिय लाज्यो ।।

वे गोपियों को पूजनीया मानकर उनकी पद-पूजा के अभिलाषी हो गये ।

(ग) भ्रमर अन्योक्ति

इसी समय एक भ्रमर कहीं से गूँजता हुआ वहाँ उड़ आया और फिर तो भ्रमर गोपियों के सारे रोष-आक्रोश और आलोचना-भर्त्सना का आलम्बन हो गया । अन्योक्ति से वे भ्रमर को डाँटने-फटकारने के रूप में उद्धव को जली-कटी सुनाने लगीं । वे एक-एक करके कहने लगीं—

(१) कोउ कहै अहो मधुप कौन कहे तुम्हें मधुकारी ।
जिये फिरत बिस जोग गाँठि प्रेमी अधिकारी ॥
रुधिर पान कियो बहुत के अधर अरुन रंगरात ।
अब ब्रज में आये कहा करन कोन को घात ॥

(२) कोउ कहे रे मधुप कहा तू रस की जानैं ।
बहुत कुसुम पै बैठि सबन आपन रस मानैं ॥
आपन सों हमकों कियों चाहत है मतिमन्द ।
दुविधा रस उपजाय कै दूषित प्रेम अनन्द ॥

(३) कोउ कहै सखि विश्व माहिं जेते हैं कारे ।
कपट कोटि के परम कुटिल, मानुस बिसवारे ॥
एक स्याम तन परसि कै जरत आजु लौं अंग ।
ता पाछे फिरि मधुप यह लायो जोग भुअंग ॥
कहा इनको दया ।

उपसंहार

अन्त में

ता पाछें एक बारही रोईं सकल ब्रज नारि ।
हा करुनामय नाथ हो ! केसौ ! कृष्ण ! मुरारि ॥
फाटि हिय दृग चल्यो ॥

वियोगिनी ब्रजबालाओं की करुण दशा दयनीय हो उठी—

उमग्यो यों तह सलिल सिन्धु लै तन की धारन ।
भीजत अम्बुज नीर कंचुकी भूषन हारन ॥

बस प्रेम के प्रवाह में उद्धव वह चले और फिर तो—

प्रेम बिवस्था देखि सुद्ध यों भक्ति-प्रकासी।
दुविधा ग्यान गलानि मन्दता सगरो नासी ॥
कहत भयो निस्चै यहै हरि रस की निज पात्र।
हौं तो कृतकृत ह्वै गयो इनके दरसन मात्र ॥
मेटि मलि ज्ञान को।

अब उद्धव के मन में भी गोपियों की प्रेमाभक्ति का प्रकाश-विकास हो गया। उद्धव जो गोपियों के तर्कों से पराजित न हो सके थे, उनकी प्रेम-भावना से पराजित हो गये। उद्धव की पराजय इस उक्ति में ध्वनित है—

जे ऐसी मरजाद मेटि मोहन को ध्यावैं।
काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावैं ॥
ग्यान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच ॥
विषमता बुद्धि की।

इस प्रकार यह ज्ञानयोग और कर्मयोग के ऊपर प्रेमयोग की विजय है!

अब तो उद्धव के लघुज्ञान का गर्व खर्व हो गया और वे पूर्ण भक्त बन गये।

अब ह्वै रहौं-ब्रज भूमि को मारग में की धूरि।
विचरत पग मो पर धरैं सब सुख जीवन-मूरि ॥

अन्त में अपने द्विविधा ज्ञान से रहित होकर उद्धव-प्रेम-भक्ति पाकर मथुरा लौटते हैं।

मथुरा में वे कृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेम-भावना का वर्णन करते हैं, उन्हें मीठा उलाहना भी सुनाते हैं और फिर उन्हीं गोपियों के साथ रहने की प्रार्थना करते हैं जिनसे उनका प्रेम-सम्बन्ध बना था।

कृष्ण ने अन्त में,

उनमें मो मैं हे सखा छिन भरि अन्तर नाहिं।
ज्यों देख्यो मो माहिं वे हौं हूं उनहीं माहिं ॥

इस प्रकार उद्धव का मोह विलीन हो गया और नन्ददास के द्वारा प्रेम-भक्ति की प्रतिष्ठा हुई।

भ्रमर-गीतों का तुलनात्मक अध्ययन

(१)—श्रीमद्भागवत और नन्दरास कृत 'भँवर-गीत'

श्रीमद्भागवत की कथा में कृष्ण उद्धव को ब्रज जाने का आदेश देते हैं और वे ब्रज में पहुँचते है। उद्धव वहाँ पहिले नन्द-यशोदा से भेंट करते हैं; गोपियों से उनकी वार्ता दूसरे दिन होती है। परन्तु नन्ददास के भ्रमरगीत में नन्द-यशोदा से भेंट का प्रसंग नहीं है। वस्तुत: सूरदास और नन्ददास दोनों ने कथा के भाव-विस्तार को कृष्ण और गोपियों के मनोजगत् का विषय ही बना दिया है। उद्धव गोपी-सम्वाद ही कृष्ण-भक्त कवियों का प्रमुख प्रतिपाद्य हो गया है।

(२) नन्ददास के 'भंवर गीत' में भागवत की भाँति ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं है, वस्तुत: यह कृष्ण-भक्त कवियों का लक्ष्य था ही नहीं। उन्होंने तो प्रेम-भक्ति के मण्डन और ज्ञान-योग के खण्डन के लिए ही भ्रमर-गीत प्रसंग को अपना अस्त्र बनाया था। सूर की भाँति नन्ददास के भ्रमर-गीत में भी, गोपियाँ उद्धव के समझाने से सन्तुष्ट नहीं होतीं (जैसा कि भागवत में है), वरन् वे तर्क वितर्क करके तथा अपनी प्रेम-भक्ति की तन्मयता से उद्धव को परास्त कर देती हैं।

(३) इसी कारण नन्ददास जी के भ्रमरगीत में गोपियों की तन्मयता की अवस्था में उद्धव श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। यह भी भागवत में नहीं है।

(४) भागवत में, नन्द-यशोदा और गोपियों ने कृष्ण को उपहार भेजे हैं परन्तु नन्ददास के 'भँवर-गीत' में इसका भी कोई प्रसंग नहीं है।

(२) सूरदास और नन्ददास के भ्रमर-गीत

सूरदास और नन्ददास दोनों ने यद्यपि भागवत के ही कथा-मूल से अपने काव्यों को पल्लवित किया है परन्तु दोनों सर्वांश में समान नहीं हैं।

सूर ने उद्धव की नन्द-यशोदा से भेंट दिखाई है, नन्ददास ने इस प्रसंग को छुआ तक नहीं है। सूर के भ्रमर-गीत में एक कथा चलती है, परन्तु नन्ददास के भ्रमर-गीत में केवल उद्धव-गोपी-सम्वाद ही हैं।

सूर के 'भ्रमर-गीत' की गोपियाँ तार्किक उतनी नहीं हैं जितनी भावुक। वे प्रेम-भावना और उससे उत्पन्न सहज तर्कों से उद्धव को पराजित करती हैं, केवलमात्र शास्त्रीय तर्क-वितर्क से नहीं—इसके विपरीत नन्ददास के 'भँवर-गीत' की गोपियाँ तार्किक भी हैं, भावुक मात्र नहीं। उद्धव और उनका सम्वाद ज्ञानयोगी (ज्ञानमार्गी) निर्गुणवादी पण्डित और प्रेमयोगी भक्त-सगुणवादी भक्त का शास्त्रार्थ-सा जान पड़ता है।

सूरदास के भ्रमर-गीत में भ्रमर उद्धव के आगमन के पहिले ही उपस्थित है; नन्ददास के 'भंवर-गीत' में भ्रमर (भागवत के अनुसार) वार्तालाप या सम्वाद (या शास्त्रचर्चा) के बीच में आता है।

नन्ददास की मौलिक उद्भावनाएँ

नन्ददास के 'भंवर-गीत' की श्रीमद्भागवत तथा सूरदास के भ्रमर-गीत की तुलना में निम्नलिखित मौलिक उद्भावनायें हैं।

(१) नन्ददास जी ने भ्रमर-गीत को उद्धव-गोपी सम्वाद में सीमित कर दिया है और उद्धव को ब्रज में भेजने का कृष्ण का आदेश, ब्रज-यात्रा आदि पृष्ठभूमि-रूप प्रकरण उन्होंने छोड़ दिये है।

वरन् इसके विपरीत उन्होंने अपने काव्य में उद्धव का गोपियों से प्रथम परिचय, गोपियों का प्रेमावेश, सम्वाद का प्रारम्भ (निर्गुण-सगुण उपासना का शास्त्रार्थ) और उद्धव का प्रेमाभिभूत होना आदि रसात्मक विषय नियोजित किये हैं। भागवत में उद्धव कृष्ण के सन्देशवाहक हैं, परन्तु इस काव्य में वह (तर्क-वितर्क पूर्ण) उद्धव और गोपियों के संवाद का रूप ले लेता है।

भागवत का मूल भाव निर्गुण ब्रह्म की उपासना का ही है—

"मैं सब का उपादान कारण होने से सबका आत्मन् हूं, सब में अनुगत हूं इसलिये मुझ से तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता।" इसे कवि ने ७ वें पद मे लिया है। परन्तु जहां भागवत की गोपियाँ उद्धव (अथवा कृष्ण) के उपदेश से पूर्ण सन्तुष्ट हैं, वहाँ 'भँवर गीत' में वे उसका तीव्र प्रतिरोध करती हुईं सगुण भक्ति या प्रेमाभक्ति का मण्डन करती हैं।

नन्ददास के काव्य में दूसरा खंड (जो उसके २६ वें पद से चलता है ।) कृष्ण के प्रति उपालम्भ है जो अत्यन्त रमणीय और काव्यात्मक है। यह उपालम्भ भागवत में (६ श्लोकों मे) केवल एक ही गोपी भ्रमर की अन्योक्ति से देती है; नन्ददास ने उसे भिन्न-भिन्न गोपियों के मुँह से दिलवाया है। यह अधिक स्वाभाविक और रसोत्पादक है।

भ्रमर के प्रति अन्योक्ति वस्तुतः 'भँवर गीत' का तीसरा खंड है, जिस का अपना महत्त्व है और जिसके कारण ही यह प्रसंग भ्रमर-गीत कहा जाता है।

नन्ददास का यह मौलिक कृतित्व सूरदास के भ्रमर-गीत के अधिक निकट है। सूर के छन्द-बद्ध भ्रमर-गीत के (जो गीतबद्ध भ्रमर-गीत से भिन्न है) तर्क-वितर्क से नन्ददास के भ्रमर-गीत न तो इतना प्रसिद्ध है न इतना प्रचलित और प्रतिष्ठित जितना नन्ददास का 'भंवर-गीत। इसका कारण यह है कि नन्ददास ने प्रसंग को एक सुष्ठु, सुनियोजित खण्ड-काव्य का रमणीय रूप दे दिया है।

नन्ददास ने बीज भागवत से लिया, कलियां सूरदास से ली किन्तु उन्हें विकसित किया अपने रमणीय उद्यान में।

नन्ददास के काव्य में रस-सृष्टि

नन्ददास के विषय में उन्हीं के समकालीन कवि ध्रुवदास जी ने यह प्रशस्ति दी है—

नन्ददास जो कछु कह्यौ राग-रंग में पागि।
अक्षर सरल सनेह मय सुनत होत हिय जागि॥
रसिक-दसा अद्भुत हुती करत कवित्त सुधार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत प्रेम जल धार॥
रसिक बाबरी सो फिरै खोजत हित की बात।
आछे रस के बचन सुनि वेगि विवस ह्वै जात॥

काव्य-मर्मज्ञ श्री वियोगी हरि के शब्दों में—"नन्ददास जी परम भागवत, महान् भावुक और उच्च प्रतिभावान् सत्कवि थे। इनकी रचना हृदय-

वेधिनी, मर्मस्पर्शिनी, सरस और सजीव है।" (ब्रज माधुरीसार)

नन्ददास एक रससिद्ध कवीश्वर थे—इसका परिचय उनके 'रास पंचाध्यायी' और 'भ्रमर-गीत' दोनों काव्य-कृतियों द्वारा मिलता है।

'रास पंचाध्यायी' में श्रीकृष्ण भगवान् का भक्त-चूड़ामणि गोपिकाओं से रास किया जाना वर्णित है। इसमें संयोग और वियोग के प्रभावशाली चित्र हैं। यह श्रृङ्गार लौकिक में अलौकिक का आभास देता है। श्रीकृष्ण और गोपियाँ परस्पर आलम्बन और आश्रय हैं। शारदीया रजनी और परम सुषमामयी वृन्दावन की पुण्य-भूमि तथा लताकुंज में से आती हुई मनमोहिनी मुरली की ध्वनि उसके उद्दीपन हैं। गोपियाँ प्रेमातुर होकर कृष्ण की ओर धावित हो उठती हैं और आलिंगन में बद्ध हो जाती हैं। पूरे उपादानों के साथ श्रृङ्गार-रस यहाँ प्रस्तुत हुआ है। एक चित्र देखिए—

> कोउ मुरली संग रली रगीली रसहिं बढ़ावति।
> कोउ मुरली को छौंक छबीली अद्भुत गावति॥
> ताहि साँवरो कुँअर रीझि हसि लेति भुजनि भरि।
> चुम्बन करि सुख सदन वदन तै दै तमोल ढरि॥

वियोग-वर्णन भी ऐसा ही उत्कृष्ट और मर्मवेधी है। विरहिणी गोपिकायें श्रीकृष्ण की खोज में उसी प्रकार व्याकुल-विह्वल हो उठती हैं जैसे राम सीता के विरह में हुए थे और प्रकृतिमात्र से प्रिय का पता पूछने लगती हैं।

पहिली बार प्रिय कृष्ण के 'घर जाहु' कहने पर ही उनकी दशा दयनीय हो उठती है—

> पुतरिन की सी पांति रहि गई इकटक ठाढ़ी।
> दुख के बोझ छविसीव ग्रीव नै चली नाल सी।
> अलक अलिन के भार नमित मनु कमल-माल सी॥
> हिय भरि विरह हुतासन सासन संग आवत झर।
> चले कछुक मुरझाइ मधु भरे अधर बिंब बर॥

फिर साक्षात् विरह में उनकी दशा जड़ रूपिणी हो ही जानी चाहिए थी। उनके करुणा-भरे स्वर को सुनिए—

हे अवनी ! नवनीत चोर चित चोर हमारे ।
राखे कितहिं दुराइ बतावहु प्रान पियारे ॥
अहो तुलसी कल्यानि ! सदा गोविन्द पद प्यारी ।
क्यों न कहति तू नँद नंदन सों दसा हमारी ॥

इसी प्रकार राधा की दशा भी ऐसी ही दयनीय है—

नयननि तें जलधार हार धोवत घर धावत ।
भँवर उड़ाइ न सकति वास बस मुख ढिग आवत ॥
'क्वासि क्वासि पिय महाबाहु' यों बदति अकेली ।
महा विरह की धुनि सुनि रोवत खग द्रुम बेली ॥

इस विरह-बर्णन में उन्माद-व्याधि, जड़ता, मरण आदि सभी संचारी पूर्णत: व्यंजित हुए हैं ।

"भ्रमर-गीत" एक विरह-प्रधान काव्य है । गोपियां और कृष्ण प्रेम के आश्रय और आलम्बन हैं । गोपियां जहाँ कृष्ण के लौट आने की आशा में पथ पर पलकें बिछा रही थीं, वहाँ उन्हें उद्धव के द्वारा उनको भूल जाने का सन्देशा मिला । प्रियतम कृष्ण का नाम सुनते ही प्रेम की सुप्त ज्वाला प्रदीप्त हो उठती है । मनोवैज्ञानिक सत्य को मर्मज्ञ कवि नन्ददास ने भली भाँति पहिचाना है ।

व्रजबालाओं की उस उत्कट प्रेम-विकलता का चित्र देखिए—

सुनत स्याम कौ नाम वाम गृह की धुनि भूली ।
भरि आनन्द रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली ॥
पुलकि रोम सब अंग भये ।
भरि आये जल नैन ॥
कण्ठ घुटे गदगद गिरा,
बोले जात न वैन ॥

यहाँ श्याम (कृष्ण) आलम्बन हैं, उनका नाम-श्रवण उद्दीपन है । 'भरि आनन्द रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली' में हर्ष, 'पुलकि रोम सब अंग भये' में रोमांच, 'भरि आये जल नैन' में अश्रु और 'कण्ठ घुटे गदगद गिरा' में स्वर-भंग नामक सात्विक अनुभाव संकलित हो गये हैं । लगता है जैसे साक्षात् सरस्वती ने कलम सँभाल ली हो ।

गोपियाँ फिर तनिक संभलीं। अभ्यागत का स्वागत-सत्कार किया। परन्तु ज्योंही सुना कि—"मिलि हैं थोरे दिवस में.........." त्यों ही गोपियों की तनस्थिति और मनस्थिति कैसी हो उठती है—

सुनि मोहन संदेश रूप सुमिरन ह्वै आयो।
पुलकित आनन अलक अङ्ग आवेस जनायौ॥
विह्वल ह्वै धरनी परीं ब्रजबनिता मुरझाइ।
दै जलछींट प्रबोधहीं ऊधौ बात बनाइ॥

ऐसे ही एक झाँकी कृष्ण की भी लीजिये—

सुनत सखा के बैन नैन भरि आये दोऊ॥
बिबस प्रेम आवेस रही नाहिं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवरे गात।
कलप तरोवर साँवरौ ब्रज वनिता भईं पात॥

'रास पंचाध्यायी' और 'भंवर गीत' में प्रेमाभक्ति से अन्तभूंत सभी भावों का सुन्दर चित्रण है।

प्रकृति-चित्रण

नन्ददास पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त थे। प्रकृति उनके लिये माया-रूपिणी है—वह भगवान् की अनुचरी और सेविका है। जहाँ भगवान् हैं वहाँ प्रकृति भी सुरम्य और दिव्य है। 'रास पंचाध्यायी' में वृन्दावन का वर्णन प्रकृति-चित्रण का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रकृति यहाँ गोपी और कृष्ण के रास के लिए पार्श्व-भूमि (उद्दीपन) का कार्य कर रही है।

कोमल किरन अरुनिमा बन में व्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ घुरि रह्यौ गुलाल जस॥
फटिक छटासी किरन कुञ्ज-रन्ध्रन जब आई॥
मानहु वितन वितान सुदेश तनाव तनाई॥
मन्द मन्द चलि चारु चन्द्रमा अस छबि पाई।
उझकति हैं पिय रमारमन कौ मनु तकि आई॥

नन्ददास प्रकृति चित्रण में भाव के अनुरूप रस-सृष्टि करने में कुशल हैं। उनके चित्रण मानवीय भावों के गुंजन से मुखरित हैं। विरहिणी गोपिकाओं

की दृष्टि में लता-फल-फूल भी मानव की भाँति भावाभिभूत हैं—

बूझहु री इन लतनि फूलि रहि फूलति सोहीं।
सुन्दर पिय कर परस बिना अस फूल न होहीं॥
हे सखि ये मृगबधू इनहि किन बूझहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहि कतहूँ चितये हरि॥

ऋतुवर्णन और बारहमासा जैसे रीतिबद्ध प्रकृति-चित्र भी नन्ददास ने दिये हैं। इसके अतिरिक्त अलङ्करण के लिए भी प्रकृति का चित्रण किया है। इसके कुछ उदाहरण देखिए—

(१) सरद-छबीली छपा हँसत छबि सो मनु आई।
(२) सावन सरित न रुकै करै जो जतन कोऊ अति।
कृष्ण गहे जिनको मन ते क्यों रुकहि अगम गति॥
(३) दुख के बोझ छबि सीव ग्रीव नै चली नाल सी।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल-माल सी॥
(४) कुंजनि कुंजनि डोलनि मनु घन ते घन आवनि।
लोचन तृषित चकोरन के चित चोप बढ़ावनि॥
(५) साँवरे पिय संग निरतत चंचल ब्रज की बाला।
मनु घनमंडल खेलत मंजुल चपला-माला॥

नन्ददास का काव्य कौशल

नन्ददास एक जागरूक शब्द-शिल्पी कवि हैं। भाव के साथ भाषा का भी सौष्ठव काव्य के माधुर्य के साथ सौन्दर्य का संयोग कर देता है। नन्ददास ने भाव और भाषा का जैसा सुन्दर निर्बाह किया है वह अनूठा ही है। इसी को लक्ष्य करके नन्ददास के विषय में यह समीक्षा-उक्ति कही गई है :—

"और कवि गड़िया
नन्ददास जड़िया।"

वस्तुतः नन्ददास के विषय में यह मत उचित ही है। नन्ददास की भाषा में सहज प्रवाह तो है ही, उसी प्रवाह के अनुरूप शब्दों का सुन्दर चयन भी उसमें है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"शब्दानुप्रासों की झंकार से वे ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं कि पाठक अभिभूत हो जाता है। शब्दों की ध्वनि और अर्थ की गम्भीरता एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ती है। 'अष्टछाप' के किसी दूसरे कवि में शब्दगठन की और ध्वनि-निर्माण की ऐसी क्षमता नहीं है।"

नन्ददास की भाषा में एक प्रकार का शब्द-संगीत स्पष्ट सुना जा सकता है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(रास-पंचाध्यायी)

(१) या बन की बर बानक या बन ही बनि आवै।
सेस महेस गनेस सुरेसहु पार न पावै॥
(२) नागर वर नँद नंद चंद हंसि मंद मंद तब।
बोले बाँके बैन प्रेम के परम ऐन सब॥
(३) सुभग सरित के तीर धीर बलवीर गये तहँ।
कोमल मलय समीर छवनि को महा भीर जहँ॥
(४) कुसुम धूरि धूँधरी कुंज छबि पुंजन छाई।
गुंजत मंजु मिलिन्द बीन जनु बजत सुहाई॥
(५) छविली अपनौ छादन छवि सौं विछाइ दयो है।
(६) थलज जलज झलमलत ललित बहु भंवर उड़ावै।
(७) मानहुँ वितन वितान सुदेस तनाव तनाई।
(८) विहरत वितन विहार उदार नवल नंदनंदन।
नव कुम कुम घनसार चारु चरचित तन चंदन॥

कुछ चटकीले भाव-चित्र भी देखिए—

(९) कोउ चटपटि सों कर लपटी कोउ उर बर लपटी।
कोउ गर लटकी कहति भले जू कान्हर कपटी॥
कोउ नागर नगधर की गहि रही दोउ कर पटकी।
जनु नवघन तें सटकी दाभिनी दामिनी अटकी॥

सगीत-वाद्यों की सूची होते हुए भी चयन कैसा चारु है—

(१०) नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली ।
ताल मृदंग उपंग चंग एकहि सुर जुरली ॥
मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली सुनि ।
मधुर जंत्र की तार, भंवर-गुंजार रली पुनि ॥

और गति का चरमोत्कर्ष देखिए—

तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारनि की ।
लटकनि मटकनि, झलकनि, कल कुंडल हारनि की ॥

(भ्रमर-गीत)

(१) नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरपूरि ।
प्रेम पियूषै छाँड़ि कै कौन समेटे धूरि ॥

(२) स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकार्यो ।

इनमें भी श्रुति-सुखद यमक का चमत्कार कितनी सरलता और सजीवता के साथ लाया गया है :—

(रास-पंचाध्यायी)

(क) कृपा-रंग-रस अयन नयन राजत रतनारे ।
(ख) अति सुदेस कटि देश सिंघ सोभित सघनन अस ।
(ग) गूढ़ जानु आजानु बाहु मद गजगति लोलै ।
(घ) पिघरि चल्यो नवनीत मीत नव-नीत सरिस हिय ।
(ङ) हे मंदार उदार बीर करबीर महामति ।
देखे कहुं बलबीर धीर मन हरन धीर गति ॥
(च) हरि मनमथ कर मथ्यों उलट वा मनमथ को मन ।
(छ) हे केतकि इत कितहूँ तुम चितये मन रूसे ।
(ज) हे अवनी, नवनीत चोर चित चोर हमारे ।
(झ) कोमल चरन सरोज उरोज कठोर हमारे ।
(ञ) रीझि सरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी ।

(भ्रमरगीत)

(१) जाहि बताओ जोग जोग ऊधो जेहि पावो ।
(२) मदन त्रिभंगी आप हैं, करो त्रिभंगी नारि ।

(३) निर्गुन भये अतीत के सगुन सकल जग माहिं।

'कुटिल अलक मुख कमल मनों अलि अवलि विराजै', 'भुनुक मुनुक अनि छबिलि-भाँति सब प्रगट भई जब', 'इति महकति मालती चारु चम्पक चित चोरत, 'उत कमोद' आमोद गोद भरि-भरि सुख दवटै', 'नवकुंकुम घन-सार चारु चर्चित तन चन्दन' "गुंजत मंजु अलिन्द बीन जनु बजत सुहाई" मानहुँ वितन वितानु सुदेस तनाव तनाई' कोमल मलय समीर छविन की महाभीर जहं' जैसे प्रयोग बड़ी सरलता से लिखने वाला शब्द-शिल्पी नन्ददास सच्चा भाव-शिल्पी भी है--और वह शब्द-संगीत के साथ भाव-संगीत का भी गुणी है।

नन्ददास के काव्य में ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्त वाक्य बड़ी चारुता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। इन्हीं युक्तियों के द्वारा पुष्टि का शास्त्रार्थ हुआ करता होगा—

(क) ज्ञान मार्ग:—

(i) लोह दारु पाषान में जल-थल मही अकास।
सचर अचर बरतत सबै जोति ब्रह्म-परकास॥

(ii) हाथ पायं नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान!
अच्चुत ज्योति प्रकासिका सकल विश्व कै प्रान॥

(iii) जो हरि के गुन होइ वेद क्यों नेति बखानै।
निर्गुन सगुन आतमा उपनिषद जो मानै॥

(iv) कर्महि ते उतिपत्ति है, कर्महि ते सब नास।
कर्म किये ते मुक्ति होइ पारब्रह्मपुर बास॥

(v) क्रम क्रम कर्मे के लिए कर्म नास ह्वै जाय।
तब आत्मा निहकर्म ह्वै निर्गुन ब्रह्म समाय॥

(ख) पुष्टि मार्ग (भक्ति मार्ग):—

(i) ज्ञान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देत हौ हीरा आगे काँच॥

(ii) जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां ते ।
बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ ते ॥
(iii) नास्तिक हैं जे लोग कहा जानै निज रूपै ।
प्रगट भानु को छाँड़ि गहत परछाईं धूपै ॥

लोकोक्तियों और प्रोक्तियों (idioms) का सहज सौन्दर्य नन्ददास के काव्य में खिल उठा है । 'रासपंचाध्यायी' में कुछ अनुभव सिद्ध सत्य प्रयुक्त हुए हैं—

और 'भंवर गीत' में तो (गोपियों और उद्धव की दो-दो बातें होने के कारण) ठेठ लोकोक्तियों और भाव-व्यंजक प्रोक्तियों का सजीव प्रयोग हुआ है । कुछ उदाहरण देखिए—

१—जहं नदि नीर गम्भीर तहाँ भल भंवरी परई ।
छिल छिल सलिल न परै परै तौ छवि नहिं करई ॥
२—मधुर वस्तु ज्यों खात निरन्तर सुख तौ भारी ।
बीचि बीच कटु अम्ल तिक्त अतिशय रुचिकारी ॥
३—भृंगीभय तें भृंग होत इक कीट महाजड़ ।
कृष्ण भगति तें कृष्ण होत कछु नहिं अचरज बड़ ॥
(१) प्रेम-पीयूषै छाँड़ि कै कौन समेटै धूरि ।
(२) घर आए नाग न पुजैं बाँबी पूजन जाहिं ॥

इनके अतिरिक्त--"कहु अकास किहिं टेक ॥" 'करत्तल आमलकं' "हिय लौन लगावो" छुधित ग्रास मुंह काढ़ि, "गाँठि को खोइ कै" "हीरे आगे काँच" "जबहि लों वाँधी मूठी "तिन को मेलो कूप" आदि-आदि सशक्त प्रोक्तियों का प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली हैं ।

रास-पंचाध्यायी

ग्रौर

भ्रमर-गीत

[मूल पाठ और टीका]

रास पंचाध्यायी

प्रथम अध्याय

(शुक-वन्दना)

१—वन्दन करौं कृपा निधान श्री शुक शुभकारी।
शुद्ध ज्योतिमय रूप, सदा सुन्दर अविकारी॥

सर्वप्रथम मैं लोक-कल्याणकारी और कृपालु मुनि शुकदेव की वन्दना करता हूं, जो शुद्ध (निर्विकल्प) ज्योति-स्वरूप हैं और निरन्तर विकार रहित हैं।

अलं०—'शुक' 'शुभकारी' और 'सदा-सुन्दर' मे छेकानुप्रास।

२—हरि-लीला रस-मत्त मुदित नित विचरत जग मैं।
अद्भुत गति कतहूँ न अटक ह्वै निकसत मग मैं॥

जो भगवान् विष्णु की 'लीला' के आनन्द मे मस्त होकर प्रसन्नतापूर्वक नित्य संसार में विचरण किया करते हैं; जिनकी अलौकिक गति सांसारिक विघ्नों में न अटक कर, मार्ग में अविरुद्धता से प्रस्फुटित होती है—

३—नीलोत्पल-दल स्याम अंग नव जीवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख-कमल मनों अलि-अवलि विराजै॥

उनके नीले कमल की पंखडी के समान श्याम रंग के अङ्गों में नवयौवन सुशोभित होता है। उनके मुख-मंडल पर लहराती हुई घूंघराली लटें ऐसी लगती हैं, मानो कमल के ऊपर भ्रमर पंक्ति सुशोभित हो।

अलं—''नीलोत्पलदल-श्याम अंग' में 'वाचक लुप्तोपमा' 'मुख कमल' 'में 'रूपक'; 'मुख कमल मनौ·······विराजै' में उक्तिविषया वस्तूत्प्रेक्षा' 'अलि अवलि' में छेकानुप्रास।

४—ललित विसाल सुभाल दिपति जनु निकर-निसाकर।
कृष्ण भक्ति प्रतिबन्ध-तिमिर कहुँ कोटि दिवाकर॥

उनका सुन्दर और चौड़ा ललाट ऐसा दीप्तिमान है जैसे प्रफुल्ल चंद्रमा के झुण्ड हों अथवा वह कृष्ण-भक्ति की वाधा रूपी तिमिर का नाश करने के लिए करोड़ों सूर्य की भांति है।

अलं—प्रथम पंक्ति—निरंग रूपक; द्वितीय पंक्ति—परंपरित रूपक।

५—कृपा-रंग रस ऐन नैन राजत रतनारे।
कृष्ण रसासवपान-अलस कछु घूम घुमारे॥

उनके नेत्र करुणा-रंग के रस से परिपूर्ण हैं और रक्तिम (रतनारे) वर्ण के हैं (मानों) वे कृष्ण की भक्ति (प्रेम) के आनन्द की सुरा का पान करने से अलसाये हुए और तंद्रिल है।

६—उन्नत नासा अधर बिम्ब सुक की छबि छीनी।
तिन बिच अद्‌भुत भाँति लसति कछु इक मति भीनी॥

उनकी उभरी हुई नासिका और रक्त-वर्ण अधरों ने तोते (की चोंच) और बिम्बा-फल की सुन्दरता छीन ली है—अर्थात् वे तोते की चोंच और बिम्बाफल से भी बढ़कर सुन्दर हैं।

उन (नासिका कौर ओठों) के बीच में भींगती मसें (मूछों की रेखायें) कुछ अद्‌भुत रूप से सुन्दर लगती हैं।

अलं०—ललितोपमा।

७—स्रवन कृष्ण-रस-भवन गंड-मंडल भल दरसै।
प्रेमानन्द मिली सुमन्द मुखरनि मधु बरसै॥

कपोल-प्रदेश में कृष्ण के प्रेम-रूपी रस के पात्र उनके कान बड़े सुन्दर दिखाई देते हैं और प्रेम के आनन्द से मिश्रित मन्द-मन्द मुसकान तो मधु (मिठास) ही बरसा रही है।

८—कंबु-कंठ की रेख देखि हरि-धरमु प्रकासै।
काम क्रोध मद लोभ मोह जिहि निरखत नासै॥

शंख के समान कण्ठ की रेखा देखकर तो वैष्णव धर्म प्रकाशित हो जाता है—क्योंकि उसे देखकर ही काम, क्रोध, मद (घमण्ड), लोभ, मोह

आदि दुर्गुणों का विनाश हो जाता है।

अलं०—लुप्तोपमा, अत्यन्तातिशयोक्ति।

९—उर-बर पर अति छवि कि भोर कछु बरनि न जाई।
जिहिं अन्तर जगमगत निरन्तर कुँवर कन्हाई॥

श्रेष्ठ हृदय पर विपुल शोभा की इतनी भीड़ है कि उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके अन्तर्गत निरन्तर कुमार कृष्ण की शोभा प्रतिबिम्बित होकर जगमगाती है!

१०—सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजति भारी।
हिय-सरवर रस पूरि चली मनु उमगि पनारी॥

उनके सुन्दर विशाल उदर (वक्षस्थल) पर विपुल रोमावली (अर्थात् रोमों की पंक्ति) सुशोभित है—मानों कृष्ण की प्रीति की धारा उनके हृदय रूपी सरोवर को परिपूर्ण भर कर बाहर उमड़ चली है।

अलं०—हेतूत्प्रेक्षा-रूपक तथा श्लेष से पुष्ट।

११—ता रस की कुण्डिका नाभि अस सोभित गहरी।
त्रिबली ता महँ ललित भाँति मनु उपजति लहरी॥

और उसी प्रीति-रस की धारा के लिए मार्ग में एक गहरी कूंडी की भाँति नाभि शोभित होती है जिस (नाभि) मे त्रिवली (तीन रेखाओं) रूपी तीन लहरियाँ सुन्दर रूप से उत्पन्न होती हैं।

अलं०—उपमा (या उत्प्रेक्षा), श्लेष।

१२—गूढ़ जानि आजुनुबाहु मद-गज-गति लोलैं।
गंगादिकनि पवित्र करन अवनी पर डोलैं॥

वे जंघाओं तक पहुँचनेवाली लम्बी बाहों वाले (आजानुवाहु) मुनि अपनी कठोर या सुघड़ जंघाओं से मस्त हाथी की भाँति (झूमते हुए) चलते हैं और पृथ्वी पर गंगा इत्यादि पवित्र वस्तुओं को भी पवित्र करते हुए से विचरण करते हैं।

(भागवत-माहात्म्य)

१३—जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगनि तें दूरि भए दुरि।
पसरि पर्‌यो अंधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि॥

जब सूर्य-देवता रूपी श्रीकृष्ण लोकों की आँखों से छिपकर दूर हो गये थे तो समस्त संसार में घोर घुमड़ता हुआ घना अन्धकार छा गया था।

१४—तिमिर-ग्रसित सब लोक-ओक लखि दुखित दया कर।
प्रगट कियो अद्भुत प्रभाउ, भागवत-विभाकर॥

और सब लोगों का समूह—सम्पूर्ण विश्व—अन्धकार में ग्रस्त हो गया था—तब उस दुखित जगत् को देखकर दयालु भगवान् ने अलौकिक माहात्म्य (प्रभाव) वाले इस श्रीमद्भागवत रूपी चन्द्र को प्रकट किया था।

१५—ताहू मे पुनि अति रहस्य यह पंचाध्याई।
तन महँ जैसे पंच प्रान अस सुक मुनि गाई।

और फिर उसमें भी अतिगुह्य रहस्यपूर्ण यह 'पंचाध्यायी' (पांच अध्याय वाला) मुनिवर शुकदेव ने गाया है जैसे शरीर में पंच प्राण (तत्त्व)—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—व्याप्त हैं उसी प्रकार इसके ये पाँच अध्याय भी महत्त्वपूर्ण हैं?

अलं०—उपमा। १४-१५ मे 'सार' भी।

१६—परम रसिक इक मीत मोहि तिन आज्ञा दीन्ही।
ताते मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्हीं॥

एक परम रसिक मित्र ने मुझे आज्ञा दी है इसलिए मैंने उस परम पवित्र कथा को अपनी बुद्धि के अनुसार हिन्दी भाषा में रूपान्तरित किया है।

(श्री वृन्दावन-वर्णन)

१७—श्रीवृन्दावन चिद्घट कछु छबि बरनि न जाई।
कृष्ण-ललित लीला के काज धरि रह्यौ जड़ताई॥

चैतन्य स्वरूप श्री वृन्दावन की शोभा अवर्णनीय है वह चिद्रूप है परन्तु कृष्ण की ललित लीला के निमित्त ही जड़-रूप हो गया है।

अलं०—फलोत्प्रेक्षा।

१८—जँह नग खग मृग कुंज लता वीरुध तृन जेते।
नहिन काल गुन-प्रभा सदा सोभित रहे तेते॥

जहाँ के पर्वत, पशु-पक्षी, लता-कुंज, पेड़-पौधे सब के सब काल (समय) चक्र के प्रभाव से परे हैं—उन पर कालचक्र का प्रभाव नहीं पड़ता; (अतः) वे सदैव एक-से सुशोभित रहते हैं।

१६—सकल जंतु अविरुद्ध जहां हरि मृग चरहीं।
काम-क्रोध-मद-लोभ-रहित लीला अनुसरहीं॥

जहां सब जन्तु—सिंह और मृग आदि—परस्पर शत्रु होते हुए भी एक दूसरे के अनुकुल (प्रेमपूर्वक) रहते हैं और काम, क्रोध, मद लोभ, मोह आदि से रहित होकर लीला का आनन्द लाभ करते हैं।

अलं०—अत्युक्ति।

२०—सब दिन रहत बसंत कृष्ण-अवलोकनि लोभा।
त्रिभुवन कानन जा विभूति करि सोभित सोभा॥

इस वृन्दावन में कृष्ण के दर्शन के लोभ से सदैव बसन्तऋतु ही रहती है जिसकी विभूति तीनों लोकों के उपवनों की शोभा को शोभित करती है।

अलं०—छेकानुप्रास, ललितोपमा, उत्पेक्षा।

२१—ज्यों लक्ष्मी निज रूप अनूप चरन सेवत नित।
भ्रू विलसति जु विभूति जगत जगमगि रहि जित कित॥

लक्ष्मी अपने रूप से इस वन की नित्य सेवा करती है और भ्रू के विलास मात्र से, अर्थात् केवल एक दृष्टि मात्र डाल कर ही, जगत में उस सौंदर्य को बिखरा देती है जो यत्र-तत्र-सर्वत्र जगमगा रहा है।

२२—श्री अनन्त महिमा अनन्त को बरनि सकै कवि।
संकरसेंन सो कछुक कही श्रीमुख जाकी छवि॥

स्वयं भगवान शेषनाग भी (अपनी सहस्र जिह्वाओं से) उसकी असीम रूप-शोभा का कथन नहीं कर सकते कवि तो क्या? उसकी सुन्दरता का वर्णन कृष्ण ने श्री बलराम जी से (या शंकर जी से) कुछ-कुछ किया है—

अलं०—अतिशयोक्ति, यमक।

२३—देवन मैं श्रीरमारमन नारायन प्रभु जस।
बन मैं वृन्दावन सुदेश सब दिन सोभित अस॥

कि जिस प्रकार देवों में रमा पति श्री विष्णु भगवान श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब वनों में वृन्दावन है जो नित्यप्रति सुशोभित रहता है।

अलं०—उपमा।

२४—या वन की वर-बानिक या वन हीं बनि आवै।
सेस महेस सुरेस गनेस न पारहि पावै॥

इस वन की सुन्दर रचना-शोभा इस वन में ही दिखाई देती है, (अन्यत्र) नहीं), इसकी शोभा का पार शेषनाग, महादेव, इन्द्र, गणेश आदि भी नहीं पाते।

अलं०—अनन्वय, अतिशियोक्ति, वृत्त्यानुप्रास, यमक और लाट।

२५—जँह जेतिक द्रुम जाति कलपतरु सम सब लायक।
चिंतामनि मस भूमि सकल चिंतित फल-दायक॥

यहाँ जितने भी वृक्ष उगे हैं वे सब के सब स्वर्ग के सर्वफलदाता कल्पवृक्ष के समान सुयोग्य हैं और यहाँ की भूमि चिन्तामणि के समान सर्वइच्छित फल प्रदान करने वाली है।

अलं०—उपमा।

२६—तिन मधि इक जु कल्पतरु लगि रहि जगमग जोती।
पत्र मूल फल फूल सकल हीरा मनि मोती॥

उनके बीच में जो एक कल्पवृक्ष है—उसमें ज्योति जगमगाती रहती है और उसके जड़, पत्ते और फल-फूल कुछ और हीरामणि और मोतियों के हैं।

२७—तिन मधि, तिनके गंध लुब्ध अस गान करत अलि।
वर किन्नर गन्धर्व अपछरा तिन पर करि बलि॥

उनके (वृक्षों) बीच में, उनके गन्ध से लुभाकर भौंरे गान करते हैं। उन पर उनके राग के कारण श्रेष्ठ किन्नर, गन्धर्व और अप्सरायें बलिहार हैं।

२८—अमृत फुहीं सुख गुही अति सुही परति रहित नित।
रास रसिक सुन्दर पिय को स्रम दूर करन हित॥

गोपियों के साथ रास के रसिक सुन्दर प्रिय की थकान को मिटाने के लिए बृक्ष से सुख से ओत-प्रोत अमृत की अत्यन्त सुहावनी फुहार पड़ती रहती है।

अलं०—फलोत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

२९—वा सुरतरु मह अवसर एक अद्भुत छवि छाजै।
साखा-दल-फल-फूलनि हरि-प्रतिबिम्ब विराजै॥

उस कल्पबृक्ष मे एक और अलौकिक शोभा है कि उसकी प्रत्येक शाखा और पल्लव तथा फल-फूल में भगवान कृष्ण का प्रतिविम्ब विराजता है।

३०– ता पर कोमल कनक भूमिमन मय मोहति मन ।
दिखियत सब प्रतिबिम्ब मनौं घर मह दुसरो बन ॥

उसके नीचे कोमल मणि-जटिल स्वर्ण-भूमि मन को मोहित करती है और उस सबका प्रतिबिम्ब जब घर-घर में दिखाई देता है तो मानों घर में दूसरा बन हो जाता है अथवा जब उसमें सब वृक्षों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है तो मानो पृथ्वी के भीतर दूसरा वन हो जाता है ।

अलं०—उत्प्रेक्षा ।

३१—तहँ इक मनिमय अंक चित्र को संग सुभग अति ।
तापर षोडस दल सरोज अद्भुत चक्राकृति ॥

वहाँ एक मणिजटित (सिंहासन पर) अत्यन्त सुन्दर शंख चित्रित है और उस पर सोलह दल (पंखुड़ियों) वाला कमल विचित्र चक्र के आकार का बना हुआ है ।

३२—मधि कमनीय करनिका सब सुख सुन्दर कन्दर ।
तह राजत ब्रजराज-कुँवर-वर रसिक-पुरन्दर ॥

बीच में अति सुन्दर सुखदायी एक पुष्पाकार कर्णिका (छत्र) है जिसकी छाया में श्री ब्रजराजकुमार, रसिकों में इन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र (क्रीड़ा करते हुए) विराजते हैं ।

अलं०—अनुप्रास ।

३३– निकर विभाकर दुति मेटत सुभ मनि कौस्तुभ अस ।
सुन्दर नन्द कुँवर उर पर सोइ लागत उडु जस ॥

वहाँ वह कौस्तुभ मणि जो अनेक चन्द्रमाओं के समूह की ज्योति को भी हीन कर देती है, सुन्दर नन्दकुमार कृष्ण के हृदय (वक्षस्थल) पर साधारण तारे की भाँति फीकी सी लगती है ।

अलं०—उपमा, प्रतीप ।

३४—मोहन अद्भुत रूप कहि न आवति छवि ताकी ।
अखिल अन्डव्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी ॥

भगवान् कृष्ण का रूप अत्यन्त अद्भुत रूप से मोहनेवाला है उसकी शोभा कही नहीं जा सकती । अखिल ब्रह्माण्ड में उसकी आभा व्याप्त है ।

३५—परमातम परब्रह्म सबन के अन्तरजामी।
नारायण भगवान धर्म करि सब के स्वामी॥

परमब्रह्म परमात्मा स्वरूप और सबके अन्तर्मन की जानने वाले, नारायण भगवान् धर्म संस्थापक तथा सभी धर्मवालों के स्वामी—

३६—बार[1] कुमार[2] पुगंड[3] धरम आसक्त जु ललित तन।
धरमी नित्य किसोर[4] कान्ह मोहत सबको मन॥

जिनका सुन्दर शरीर बाल, कुमार और पौगण्ड तीनों अवस्थाओं के धर्म में आसक्त है—अर्थात् उसमे तीनों अवस्थाओं की झाँकी है वे किशोर कृष्ण सबका मन मोहित करते हैं।

३७—अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बहत जहँ।
याही तें बैकुण्ठ-विभव कुण्ठित लागत तहँ॥

ऐसे गोपाल कृष्ण जहाँ सब समय रहते हैं। इसी कारण, इसके आगे बैकुण्ठ का वैभव भी वहाँ फीका लगता है।

अलं०—प्रतीप, छेकानुप्रास।

(शरद्-रजनी-वर्णन)

३८—जदपि सहज माधुरी विपिन सब दिन सुखदाई।
तदपि रँगीली सरद समय मिलि अति छवि पाई॥

यद्यपि वृन्दा-विपिन की स्वाभाविक सुन्दरता तो सब समय सुख देने वाली है तो भी शरद् ऋतु के समय तो वह अत्यन्त शोभा से भर उठती है।

३९—ज्यों अमोल नग जगमगाय सुन्दर जराय सँग।
रूपवंत गुनवंत भूरि भूषन भूषित अङ्ग॥

जैसे कोई अमूल्य नग सोने आदि सुन्दर जड़ने वाले पदार्थ के साथ जगमगा उठता है तथा जैसे रूपवान और गुणवान आभूषणों से सुशोभित अंगों के साथ और भी सुन्दर हो जाता है।

अलं०—उपमा।

४०—रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती।
ज्यों नवजोवन पार लसति गुनवती बाल ती॥

१—बाल (१ वर्ष—५ वर्ष); २—कुमार (५—१० वर्ष) ३-पौगंड (१०—१६ वर्ष); ४—किशोर (१६—२५ वर्ष)

रात्रि का मुख सुन्दर खिली हुई मालती की कलिका को सुख देता है जैसे नवयौवन पाकर कोई गुणवती कुमारी बाला सुशोभित हो जाती है।

४१—नव फूलनि सों फूलि फूल अस लगति लुनाई।
सरद छबीली छपा हँसत छवि सौं मनु आई॥

नये फूलों से फूलकर सुन्दरता फूल जैसी लगती है, मानों शरद ऋतु की छबीली रात शोभा के साथ हंसती है।

अलं०—उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक।

(चंद्रोदय)

४२—ताही छिन उडुराज उदित रस-रास-सहायक।
कुमकुम मंडित प्रिया बदन जनु नागर नायक॥

उसी क्षण रास के रस (आनन्द) में सहायक होने वाले चंद्रमा का उदय हुआ मानो वह चतुर नायक (या चतुरों के नायक) कृष्ण द्वारा कुंकुम से सजाया हुआ प्रिया का प्रफुल्ल मुख हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा, छेकानुप्रास।

४३—कोमल किरन अरुनिमा बन में व्याधि रही अस।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरिरह्यौ गुलाल जस॥

कोमल किरणों की लालिमा वृन्दावन में छाई हुई है; जैसे कामदेव के द्वारा खेली हुई होली का लाल गुलाल ही वहाँ घुमड़ कर छा गया हो।

अलं०—उपमा, छेकानुप्रास।

४४—फटिक छरी सी किरन कुंज-रंध्रनि जब आई।
मानों वितनु वितान सुदेस तनाउ तनाई॥

जब स्फटिक पत्थर की छड़ी-सी चन्द्रकिरण कुंज के रन्ध्रों से छन छन कर वहाँ आने लगी तो उसने एक विस्तृत सुन्दर मंडप-सा तान दिया।

अलं०—लुप्तोपमा, उत्प्रेक्षा

४५—मन्द मन्द चलि चारु चंद्रिका अस छवि पाई।
उझकति है प्रिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई॥

सुन्दर चांदनी ने मन्द मन्द गति से चलकर ऐसी शोभा पाई मानो वह

रमा-रमण कृष्ण को उझक उझक कर प्रेमपूर्वक देख रही हैं।

अलं०—उत्प्रेक्षा और वृत्यानुप्रास।

(मुरली-वर्णन)

४६—तब लीनी कर-कमल जोग माया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर गहुरि अधरासव जुर ली॥

तब कृष्ण ने अपने हाथों में योगमाया की भाँति अघटनीय घटनाओं को घटित करने में चतुर अपने अधरों के रस में (या स्वर में) रंगी हुई मुरली (वंशी) उठाई (या उसे अपने ओठों के रस में लगा लिया।)

४७—जाकी धुनि तें अगम निगम प्रगटे बढ़ नागर।
नादब्रह्म की जननि मोहनी सब सुख सागर॥

जिसकी मधुर ध्वनि से ही ज्ञान से परिपूर्ण अगम, वेद प्रकट हुए हैं। जो नाद-ब्रह्म (शब्द-रूप ब्रह्म) को उत्पन्न करने वाली, सर्व सुखों की सागर और मोहनी रूप है।

४८—नागर नवल किशोर कान्ह कल-गान कियो अस।
बाम विलोचन बालन को मनहरन होइ जस॥

और चतुर युवक कृष्ण ने मुरली से कुछ ऐसा मधुर गान उत्पन्न किया कि जिससे तिरछे (कटाक्षपूर्ण) नेत्रों वाली बालाओं का मन मुग्ध हो जाय—

ब्रजबालाओं की विरह-दशा

४९—सुनत चलीं ब्रजवधू गीत-धुनि को मारग गहि!
भवन भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकीं नहि॥

मुरली की मधुर ध्वनि के सुनते ही ब्रजबालायें गीत के स्वर की दिशा में चल पड़ीं और वे भवनों की दीवारों अथवा पेड़ों और कुंजों में कहीं अटकी नहीं।

५० नाद अमृत को पंथ रंगीलो सूछम भारी।
तिहि ब्रज तिय भले चलीं आन कोउ नहि अधिकारी॥

मुरली के इस नाद रूपी अमृत-रस को पाने का मार्ग बड़ा रंगीला (सरस) पर अत्यन्त सूक्ष्म है। उस पर केवल ब्रजबालायें ही भली भाँति चल सकीं,

अन्य कोई उस पथ के योग्य नहीं है।

५१—जे रहि गइँ घर अति अधीर गुनमय सरीर वस।
पुण्य पाप प्रारब्ध सँच्यो तन नहिंन पच्यौ रस॥

जो ब्रजबालायें अपने सत्य-रज गुणयुक्त शरीर के वशीभूत अधीर हो घर ही पर रह गईं—उन्होंने केवल शरीर का पुण्य-पाप ही संचय किया। उन्होंने रस (ब्रह्मानन्द) नहीं पाया।

५२—परम दुसह श्रीकृष्ण-विरह-दुख व्याप्यो तिन मैं।
कोटि बरस लग तरक भोग अघ भुगते छिन मैं॥

श्रीकृष्ण का, सहने में अत्यन्त कठिन, विरह का दुख उन्हें सताने लगा और इस प्रकार उन्होंने तो एक पल में ही (मानों) करोड़ों बरसों का नरक-भोग भोग लिया।

५३—जिय पिय को धरि ध्यान तनिक आलिगन किय जब।
कोटि स्वर्ग सुख भोग छीन कीने मंगल सब॥

परन्तु जिन्होंने तनिक सा ध्यान देकर, प्रिय का आलिंगन किया, उन्होंने करोड़ों स्वर्गों का सुख भोगकर क्षण में ही सब मङ्गल साधन किया।

५४—इतर धातु पाहनहिं परसि कंचन ह्वै सो है।
नन्द सुअन सो परम-प्रेम इह अचरज को है॥

निकृष्ट धातु (लोहा) भी पारस पत्थर को को छूकर सोना बनकर सुशोभित होती है, तब नन्द-कुमार (कृष्ण) के प्रेम को छूकर यह अलौकिकता हो जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

५५—तेज पुनि तिहि मग चली रंगीली तजि गृह संगम।
जनु पिंजरनि ते उड़े छुटे नव प्रेम-विहंगम॥

तब वे रंगीली भी अपने गृह में पति का संगम (सम्बन्ध) छोड़ कर उसी स्वर के मार्ग पर तीव्रगति से इस प्रकार चल पड़ीं मानो कोई नया प्रेमी पंछी पिंजड़े से छूट कर उड़ चला हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

५६—सावन-सरित न रुकै करैं जो जतन कोऊ अति।
कृष्ण गहे जिनको मन, ते क्यों रुकहिं अगम गति॥

सावन की नदी चाहे कोई कितना ही यत्न क्यों न करे, आगे बढ़ने से रुक नहीं सकती, फिर जिनका मन कृष्ण ने पकड़ लिया हो वे अगम-गतिवाली (गोपिकाये) चलने से क्यों रुकने लगीं ?

५७—सुद्ध जोति-मय रूप पाँच भौतिक तैं न्यारी।
तिनहि कहा कोउ गहै जोति-सी जगत उज्यारी ॥

जो पंचभौतिक (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के तत्त्वों मय) शरीर से परे शुद्ध, निर्विकार ज्योति रूप हों, उन्हे कोई क्या पकड़ सकता है ?

५८—जदपि कहूँ के कहूं बधुनि आभरन बनाए।
हरि पिय पैं अनुसरत जहीं के तहिं चलि आए ॥

यद्यपि प्रेम-विह्वल, उन ब्रजवधुओं ने अपने ही अङ्गों में आभूषण कहीं के कहीं सजाकर पहन लिए थे, परन्तु प्रियतम कृष्ण की ओर चलते समय वे जहां के तहाँ (यथास्थान) आ गये।

(राजा परीक्षित का प्रश्न)

५९—परम भागवत रतन रसिक जु परीछित राजा।
प्रश्न करयो रस पुष्ट करन निज सुख के काजा ॥

भगवान् के श्रेष्ठ भक्तों में रत्न के समान भक्ति रस के प्रेमी राजा परीक्षित ने अपने आनन्द को या भक्ति-रस को पुष्ट करन के लिए प्रश्न किया—

६०—परम धरम को पात्र जानि जग को हितकारी।
उदर दरी में करी कान्ह जाकी रखवारी ॥

जगत का कल्याण करनेवाले भगवान् कृष्ण ने जिन्हें परम धर्मात्मा जानकर अपने उदर में रखकर जिनकी रक्षा की।

६१—जाकों सुन्दर श्याम-कथा छिन छिन नई लागै।
ज्यों लम्पट पर-जुवति-बात सुनि अति अनुरागै ॥

जिनको क्षण प्रति क्षण कृष्ण की सुन्दर कथा ऐसी नित्य नवीन लगती है ! जैसे कामी मनुष्य को परकीया स्त्री से प्रेमवार्ता करने में आनन्द आता है।

अलं०—उपमा।

६२—हो मुनि क्यों गुनमय सरीर परिहरि पाए हरि।
जानि भजे कमनीय कान्ह नहिं ब्रह्म-भाव करि॥

हे मुनि, जो जन कृष्ण को निर्गुण ब्रह्मरूप से नहीं वरन् सगुणरूप से भक्ति करते हैं वे इस गुण (विकार) मय शरीर को छोड़ कर कैसे उसे पाते हैं ?

तात्पर्य यह है कि गुणमय शरीर से तो सगुण ब्रह्म की प्राप्ति ही होगी फिर निर्गुण ब्रह्म कैसे प्राप्त होगा ? अथवा निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए इस गुणमय शरीर को वह कैसे छोड़ सकता है ?

(प्रश्न का समाधान)

६३—तब कहि श्री शुकदेव देव यह अचरज नाहीं।
सर्व भाव भगवान कान्ह जिनके हिय माहीं॥

तब श्री शुकदेव ने समाधान में कहा यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। कृष्ण को किसी भी भाव से देखिए, जिनके मन में वे हों, उसे वे परम गति देते ही हैं।

६४—परम दुष्ट सिसुपाल बालपन तें निंदुक अति।
जोगिन कौं जो दुर्लभ सुलभहिं पाई सोई गति॥

शिशुपाल तो महादुष्ट था। वह बचपन से हीं उनकी निन्दा करता था; परन्तु उसने भी वही गति पाई जो योगियों तक के लिए दुर्लभ है।

६५— हरि-रस-ओपी गोपी सब तियनि ते न्यारी।
कँवल-नैन गोविन्द-चन्द की प्रान-प्यारी॥

और कृष्ण के प्रेम में डूबी हुई ये गोपियाँ तो संसार की सभी स्त्रियों से निराली (अद्भुत) हैं वे कमल के समान सुन्दर नयन वाले कृष्णचन्द्र की प्राणप्यारी थीं।

(कृष्ण-गोपी-मिलन)

६६—तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाये॥
तब हरि के मन नैन सिमिट सब स्रवननि आए॥

जब उनके अत्यन्त सुहावने लगनेवाले नूपुरों को ध्वनि सुनाई दी तो कृष्ण के मन और नेत्र श्रवणार्थ सिमट कर कानों में (बसे) आगये।

६७—झुनक मुनक पुनि छबिलि भाँति सब प्रगट भईं जब।
पिय के अंग अंग सिमिट मिले छबिलि नैननि तब॥

धीरे-धीरे जब वे सब बड़ी शोभा के साथ रुनुन झुनन करती हुई प्रकट हो गईं तब तो प्रिय के अङ्ग अङ्ग दर्शनार्थ सिमिट कर उनके छबीले नेत्रों से मिल गये।

६८—सुभग बदन सब चितवत पिय के नैन बने यों।
बहुत सरद ससि माहिं अरबरे द्वै चकोर ज्यों॥

प्रिय कृष्ण के युगल नेत्र उनके सुन्दर मुखों को देखते ऐसे सुशोभित थे जैसे शरद काल के अत्यन्त उज्ज्वल निर्मल चन्द्र में दो चकोर टकटकी लगाये हों।

अलं०—उपमा।

६९—अति आदर करि लईं भईं पिय पै ठाढ़ी अनु।
छबिलि छटनि मिलि छेक्यौ मंजुल घन मूरति जनु॥

प्रिय ने अत्यन्त आदर के साथ उन्हें ग्रहण किया वे प्रिय के सब ओर खड़ी हुई इस प्रकार सुशोभित हुईं मानो किसी सुन्दर घन की मूर्ति को बिजली की छटाओं ने मिलकर घेर लिया हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

७०—नागर-गुरु नंद नंद चन्द हसि मन्द मन्द तब।
बोले बांके बैन प्रेम के परम ऐन सब॥

तब चतुर शिरोमणि, नन्द के पुत्र कृष्ण ने मन्द मन्द मुस्कराते हुए प्रेम से भरे हुए कुछ वक्र बचन कहे।

७१—उज्जल रस कौ यह सुभाव बांकी छबि छावै।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै॥

'शृंगार' या प्रेम नामक उज्ज्वल रस का स्वभाव ही है कि वह बांकपन से शोभा पाता है और बांकी रुचि और बांकी कथन-शैली उसके आनन्द को अत्यन्त रूप से बढ़ा देती है।

अलं०—लाट, अनुप्रास, बिरोधाभास।

७२—अहो तिया कहा जानि भवन तजि कानन डगरी।
अर्द्ध गई सर्वरो कछुक डर डरौ न सगरी॥

अहो ब्रजबालाओ! क्या जान करके अर्थात् किस कारण तुम अपने अपने घर छोड़कर, बन में भटक रही हो? आधी रात बीत चुकी है फिर भी तुम सबको इसका तनिक भी भय नहीं है।

७३—लाल रसिक के बंक बचन सुनि चकित भई यौं।
बाल-मृगिन की माल सघन वन भूलि परी ज्यौं॥

अपने रसिक प्रियतम (कृष्ण) के ऐसे व्यंग भरे वचन सुनकर बालायें इस प्रकार चकित हो गईं जैसे बाल-हरिणियों की टोली सघन बन में भूल भटक गई हो।

अलं—उपमा।

७४—मंद परसपर हँसीं लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रंगीली मीन पाँति जस॥

तब वे धीरे मुस्कराने लगीं और उनकी तिरछी आँखें ऐसी सुहावनी लगीं कि जैसे सौन्दर्य के समुद्र में रँगीली मछलियों की पंक्ति तैर रही हो।

अलं०—उपमा।

७५—जब पिय कह्यो घर जाहु अधिक चित्त चिंता बाढ़ी।
पुतरिन की सी पाँति, रहि गईं इक टक ठाढ़ी।

जब प्रियतम कृष्ण ने उनसे कहा—अब घर जाओ, तो उनके चित्त में अत्यंत चिंता बढ़ गई। ये सब बालायें पुतलियों की पंक्ति जैसी इकटक देखती खड़ी रह गईं।

अलं०—उपमा।

७६—दुख के बोझ छबि-सींच ग्रीव नै चली नाल सी।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल माल सी॥

दुख के बोझ से उनकी छबि की सीमा रूपी ग्रीवा कमलनाल की भाँति झुक चली, जैसे अलकों रूपी भौंरों के भार से दबी कोई कमल की माला हो।

अलं०—अतिशयोक्ति; अत्युक्ति, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा।

७७—हिय भरि बिरह हुतासन सांसन संग आवत भर।
चले कछुक मुरझाइ मधु भरे अधर बिब बर।

इसमें जो विरह की अग्नि जल रही थी उसकी लपट सांसों के साथ बाहर आती थी। उससे झुलस कर उनके मधुरस से भरे हुए सुन्दर अधरबिम्ब कुछ कुछ मुरझा चले।

अल०—रूपक।

७८—तब बोलीं ब्रज बाल लाल मोहन अनुरागी।
गदगद सुन्दर गिरा गिरिधरहिं माधुरी लागी॥

तब प्रियतम कृष्ण के प्रेम में डूबी ब्रज-बालायें बोलीं। उनकी वह सुन्दर गद्‌गद् वाणी गिरिधारी (कृष्ण) को अत्यन्त मधुर प्रतीत हुई।

७९—अहो अहो मोहन प्राणनाथ सोहन सुखदायक।
क्रूर बचन जनि कहौ नहिन ये तुम्हरे लायक॥

वे बोलीं—"अहो, अहो, मोहन! (मोहने वाले), प्राणों के स्वामी! सुख देने वाले और सुहाने वाले—तुम ऐसी निर्दयतापूर्ण बात न कहो। यह तुम्हारे (जैसे कोमल हृदयवाले प्रिय के) योग्य नहीं है।

अलं०—परिकर।

८०—जौ कोउ बूझै धरम तबहि तासों कहिए पिय।
बिन ही बूझे धरम कहत क्यों, कहि दहिए हिय॥

हे प्रिय, जब कोई तुमसे अपना धर्म पूछे तभी उससे (वह धर्म) कहिए बिना पूछे ही धर्म कहकर क्यों हृदय जला रहे हो?

८१—नेम धर्म जप तप ये सब कोउ फलहिं बतावैं।
यह कहुँ नाहिन सुनी जो फल फिरि धरम सिखावैं॥

सब कोई (ज्ञानी जन) नियम धर्म जप-तप आदि कोई शुभ फल के लिए बतलाते हैं। यह तो कहीं नहीं सुना कि फल उलटे धर्म सिखाने लगे। (तात्पर्य यह कि तुम हमारे धर्म कर्म के फल हो! फिर हमसे धर्म क्यों पूछ रहे हो?

८२—अरु यह तुम्हारौ रूप धरमि के धरमहिं मोहै।
धर मैं को तिय भरम धरमझहि आगे को है॥

"और फिर यह तुम्हारा मनमोहन रूप तो धर्मी के धर्म (या मर्म) को भी

मोह लेता है। फिर एक गृहस्थिनी-स्त्री का श्रम धर्मज्ञ के आगे क्या चीज है ?

अलं०—अनुप्रास।

८३—नगनि (न) कों धरम न रह्यौ पुलकि तन चले ठौर तें।
खग मृग गो बछ मच्छ कच्छ ते रहे कौर तें।।

("तुम्हारे मोहन रूप को देख कर) अचल पर्वतों ने भी अपना धर्म छोड़ दिया और वे शरीर से पुलकित होकर अपने स्थान से चलने लगे।

८४—त्यौं ही पिय की मुरली जु रली अधर सुधा-रस।
सुनि निजु धरम न तजैं तरुनि त्रिभुवन महिं को अस।।

"तिस पर प्रिय की मुरली के, जो कि आपके अधरामृत में डूबी हुई है, मधुर स्वर को सुनकर तो ऐसी त्रिभुवन मे, कौन युवती, है जो अपना धर्म न छोड़ देगी।

८५—सुनि गोपिन के प्रेम बचन सी आँच लगी जिय।
पिघरि चल्यो नवनीत-मीत नवनीत सदृस हिय।।

गोपियों के ऐसे प्रेम-से भरे वचन की आँच हृदय में लगी तो उन नवनीत जैसे कोमल प्रेमी का माखन जैसा कोमल हृदय पिघल चला।

अलं०—उपमा।

८६—बिहँसि मिले नन्दलाल निरखि ब्रजबाल विरह बस।
जदपि आतमाराम रमत भए परम प्रेम बस।।

तब तो कृष्ण उन ब्रजबालाओं को विरह-विवश देखकर उनसे मिले। वे यद्यपि आत्मा-राम थे फिर भी लीला से परम प्रेम के वशीभूत होगये।

वन-विहार

८७—बिहरत विपिन विहार उदार नवल नंद-नन्दन।
नव कुमकुम घनसार चारु चरचित तन चंदन।।

अब वे उदार नवयुवा कृष्ण वृन्दा-विपिन मे विहार कर रहे हैं। उनके शरीर पर नवल कुंकुम, कर्पूर और सुन्दर चन्दन का लेप किया हुआ है।

अलं०—अनुप्रास।

८८—गोपीजन मन-मोहन-मोहन लाल बने यौं।
अपनी दुति के उडुगन उडुपति घन खेलत ज्यौं।।

गोपियों के मन को चुराने-मोहने वाले प्रिय कृष्ण ऐसे सुहावने लगते हैं जैसे चन्द्रमा अपनी तारिकाओं के साथ बादल में क्रीड़ा कर रहा हो।

अलं—उपमा।

८६—कुंजनि कुंजनि डोलनि मनु घन तें घन आवनि।
लोचनतृषित चकोरन के चित चोप बढ़ावनि॥

कुंज-कुंज में विचरण करना मानों चन्द्रमा का एक बादल से दूसरे बादल में जाना है। इससे गोपियों के लोचन रूपी प्यासे चकोरों के चित्त में प्रेम की उमंग बढ़ती है।

अलं०—उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास।

६०—सुभग सरित के तीर धीर बलबीर गए तँह।
कोमल मलय समीर छबिन की महा भीर जँह॥

तब धीर गति से कृष्ण सुन्दर सरिता के तट पर गये जहाँ पर कोमल मलय पवन की शोभा संचित हो रही थी।

६१—कुसुम धूरि धूँघरी कुंज छबि पुंजनि छाई।
गुंजत मंजु अलिंद बेनु जनु बजति सुहाई॥

जहाँ, फूले हुए फूलों की पराग-धूलि (रज) शोभाशाली कुंजों में छाई हुई थी और जहाँ सुन्दर भ्रमर गूंज रहे थे—मानों सुरीली वंशी सी बजरही हो।

अलं०—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

६२—इत महकति मालती चारु चंपक चित चोरत।
इत घनसार तुसार मलय मंदार झकोरत॥

एक ओर मालती सुगन्ध फैला रही थी, सुन्दर चम्पा-पुष्प अपनी शोभा से चित को चुराये लेता था तो दूसरी ओर शीतल कपूर, चन्दन तथा मंदार वृन्द झकोरे ले रहा था।

अलं०—अनुप्रास।

६३—इत लवंग नवरङ्ग एलि इति झेलि रही रस।
इत कुरुवक केवरा केतकी गंध-बंधु बस॥

एक ओर लवंग-लता और इलायची रस से भरी थी। दूसरी ओर कुरवक (कट सरैया), केवड़ा और केतकी गंध के बंधन में बसी थीं।

६४—इत तुलसी छवि हुलसी छांड़ति परिमल लपटें।
इत कमोद आमोद गोद भरि भरि सुख दबटें॥

एक ओर अपनी शोभा में प्रसन्न तुलसी अपनी सुगंध की लपटें फैला रही थी तो दूसरी ओर कुमुद (लाल कमल) गोद में सुख भरभरकर लूट रहा था।

अलं०—अनुप्रास।

६५—उज्जल मृदुल बालुका कोमल सुभग सुहाई!
श्री जमुना जू निज तरंग करि यह जु बनाई॥

वहाँ यमुना-तट पर उज्ज्वल, कोमल, सुन्दर बालुका-राशि थी जो श्री यमुना जी ने अपनी तरंगों से बनाई थी।

६६—बिलसत बिविध विलास हास नीबी कुच परसत।
सरसत प्रेम अनंग रंग नव घन ज्यों बरसत॥

वहाँ कृष्ण गोपी जन के संग विविध हाव-भाव के साथ विलास करते हुए कभी वक्षस्थल और कभी लहँगे की नीवी का स्पर्श करते हैं और प्रेम का, काम का रंग उसी प्रकार सरसाते हैं जैसे बादल जल बरसाते हैं।

अलं० - उपमा।

मदन-मद्-हरण

६७—तहं आयो यह मौन पंचसर कर है जाके।
ब्रह्मादिक कौं जीति बढ़ि रह्यौ अति मद ताके॥

वहाँ कामदेव चुपचाप आ पहुँचा जिसके हाथ में पाँच बाण हैं। अपनी मोहनी से ब्रह्मादिक देवताओं को जीतने के कारण उसका घमण्ड बढ़ गया था।

अलं०—परिकरांकुर।

६८—निरख ब्रजवधू संग रंग- भरे नव किसोर तन।
हरिमनमथ करि मथ्यौ उलटि व मनमथ को मन॥

तब नव युवा वय वाले कृष्ण को ब्रजबाला के साथ देखकर, उसके शरीर में भी प्रेम भाव जगा। अब तक वह मनको विचलित करता था परन्तु अब तो उलटे कृष्ण ने दूसरों के मन को बिचलित करने वाले कामदेव का मन भी मथ डाला।

६९—मुरछि परयौ तब मैन कहूँ धनु कहुँ निषंग सर।
लखि रति पति की दसा भीत भइ मारति उर कर॥

इस पर कामदेव मूर्छित होकर गिर पड़ा। कहीं उसका धनुष था कहीं तीर और तरकस।

अपने पति की ऐसी दशा देखकर काम-पत्नी रति भयभीत होगई और शोक में हाथ से अपनी छाती पीटने लगी।

१००—पुनि पुनि पियहिं अलिंगति रोवति अति अनुरागी।
मदन के बदन चुवाइ अमृत भुज भरि लै भागी॥

वह बार-बार प्रिय का आलिंगन करती हुई प्रेम से रोने लगी। तब उपचारार्थ अमृत की बूंदें कामदेव के मुँह में चुआ कर वह उसे अपने भुजाओं में भर कर ले भागी।

गोपी-गर्व

१०१—अस अदभुत पिय मोहन सों मिलि गोप-दुलारी।
नहिं अचरजु जौ गरब करहिं गिरधर की प्यारी॥

कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसे अद्‌भुत प्रिय मोहन से मिलकर गिरिधर कृष्ण की प्यारी गोपियाँ उन पर गर्व करें।

१०२—रूप भरी गुन भरीं भरीं पुनि परम प्रेम रस।
क्यौं न करैं अभिमान कान्ह भगवान किए वस॥

वे (गोपियाँ) सौन्दर्य-शालिनी थीं, गुणवती थीं और प्रेम रस से भरी हुई थीं फिर वे भगवान् रूप कृष्ण को वश में करने पर अभिमान क्यों न करतीं ?

१०३--जह नद नीर गंभीर तहां भल भँवरी परई।
छिल छिल सलिल न परै परै तौ छबि नहिं करई।

जहाँ नदी में गहरा पानी होता है वहीं भँवर पड़ा करती है। छिछले पानी में भँवर नहीं पड़ती। यदि पड़ती है तो शोभा उत्पन्न नहीं करती।

१०४—प्रेम-पुंज वरधन के काज ब्रजराज कुंअर पिय।
मंजु कुंज मैं नेकु दुरे अति प्रेम भरे हिय॥

तब ब्रजराज कुमार प्रिय कृष्ण प्रेम के पुंज को और भी बढ़ाने के लिए अत्यन्त प्रेम में भरा हुआ हृदय लेकर थोड़ी देर के लिए सुन्दर कुंज में छिप गये।

दूसरा अध्याय

१—मधुर वस्तु ज्यों खात निरन्तर सुख तौ भारी।
बीचि-बीचि कटु अम्ल तिक्त अतिसय रुचिकारी॥

मीठी वस्तु निरन्तर खाते खाते अत्यन्त सुख तो होता है फिर मी बीच बीच में कड़वा, खट्टा, तीखा आदि स्वाद भी उसको अत्यन्त रुचिकर कर देते हैं।

२—ज्यों पटु पुट के दिए निपट ही रसहिं परै रंग।
तैसेहि रंचक बिरह प्रेम के पुञ्ज बढ़त अंग॥

जैसे कपड़े के पुट देने से रंग अच्छा चढ़ता है, विरह बढ़ता है (वियोग) के पुट से प्रेम अङ्गों में विशेष रूप से थोड़े से वैसे ही।

अलं०—उपमा

३—जिनके नैन निमेष ओट कोटिक जुग जाहीं।
तिनके गृह वन कुञ्ज ओट दुख अगनित आहीं॥

जिन कृष्ण के पलकों की ओट होने पर पल भर भी करोड़ों युग के समान बीतते हैं—उनके घर, वन, कुंज-निकुंज की ओट होने पर अनगिनती दुख (क्यों न) होंगे।

विरह-दशा-वर्णन

४—थकि सी रहीं ब्रजबाल लाल-गिरधर पिय बिनु यौं।
निधन महानिधि पाइ बहुरि ज्यों जाइ भई त्यौं॥

गिरधारी कृष्ण प्रियतम के बिना गोपियां थकी सी रह गईं। (उनकी दशा ऐसी थी) जैसे किसी निर्धन को महान् निधि मिल जाये और फिर चली जाये।

५—ह्वै गयीं बिरह विकल तब बूझति द्रुम बेली बन।
की जड़ को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन॥

गोपियां विरह से व्याकुल हो गईं और बन के पेड़ों और बेलों से पूछने लगीं। वियोगी व्यक्ति कौन जड़ है और कौन चेतन—यह कुछ नहीं जानता !

६—हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनियत दें चित।
मान-हरन मन-हरन गिरधरन लाल लखे इत ॥

"हे मालती ! हे जाति ! हे जुही ! तनिक ध्यान देकर तो सुनो ! क्या तुमने हमारे मान को मिटाने वाले और मन को चुराने वाले, प्यारे कृष्ण को इधर कहीं देखा है ?

७—हे केतकि ! इत कितहूँ तुम चितए पिय रूसे।
किधौं नन्द-नंद (न) मंद मुसकि तुमने मन मूसे ॥

"हे केतकी, क्या तुमने इधर हमारे रूठे हुए प्रियतम को देखा है ? क्या इधर कहीं कृष्ण ने अपनी मन्द-मन्द मुसकान से तुम्हारा मन चुराया है ?

अलं०—अनुप्रास।

८—हे मुकताफल बेलि ! धरे मुकता-मनि-माला।
देखे नैन विसाल मोंहनें नन्द के लाला ॥

हे मोतिया की लता ! क्या तुमने मुक्ता-मणि की माला पहिने हुए—बड़ी बड़ी आंखों वाले नन्दलाल, मोहन को देखा है ?

अलँ०—यमक अनुप्रास।

९—हे मंदार उदार बीर करवीर महामति !
देखे कहुँ बलवीर धीर मन-हनन धीर गति ॥

"हे उदार मंदार (आक) वृक्ष ! और बुद्धिमान करौंदे वृक्ष ! क्या तुमने इधर कहीं धीर गति वाले, मन हरने वाले कृष्ण को देखा है ?

१०—ए चंदन ! दुखकदन सब कहुँ जरत सिरावहु।
नंद-नंदन-जगबन्दन-चन्दन हमहिं मिलावहु ॥

"हे चन्दन बृक्ष ! तुम तो दु:ख दूर करने वाले हो क्योंकि सभी जलते हुओं को शीतलता देते हो। तुम्हीं नन्द के पुत्र, संसार के वन्दनीय चन्द्र कृष्ण से हमें मिला दो।"

११—बूझहु री इन लतनि फूलि रहीं फूलनि सोंही ।
सुन्दर पिय कर परस बिना अस फूल न होंही ॥

एक गोपी दूसरी से बोली—

"अरी, इन लताओं से पूछ देखो, जो फूलों से फूली हुई शोभा देती हैं, कृष्ण के सुन्दर कोमल हाथ को छुए बिना ऐसे सुन्दर फूल नहीं हो सकते ।

१२—हे सखि ये मृगबधू इनहिं किन बूझहु अनुसरि ।
डहडहे बनके नैन अबहिं कतहूँ चितए हरि ॥

"हे सखी, तनिक इनके पीछे चलकर इन हरिणियों से क्यों न पूछो—इनकी आँखें कितनी खिली हुई हैं । अवश्य ही इन्होंने अभी अभी कहीं कृष्ण को देखा है ।

१३—अहो कदंब, अहो अंब, निम्ब क्यों रहे मौन गहि ।
अहो बट ! तुङ्ग सुरंग वीर कहु इत उलहे लहि ॥

"अहो कदम्ब वृक्ष, अहो आम वृक्ष, अहो नीम, तुम सब चुपचाप क्यों हो ? अरे ऊँचे वट वृक्ष ! क्या तुम उन्हें पाकर इस प्रकार प्रसन्न हो ?"

१४—जमुन निकट के विटप पूछि भईं निपट उदासी ।
क्यों कहिहैं सखि महाकठिन ये तीरथ-बासी ॥

गोपियाँ यमुना-किनारे के सभी वृक्षों से पूछ-पूछ कर निपट उदास हो गईं और बोलीं—भला ये क्यों बताने लगे ! ये तीर्थ में निवास करने वाले वृक्ष बड़े कठोर हैं ।

१५—हे अवनी ! नवनीत-चोर चितचोर हमारे ।
राखे कितहिं दुराइ बतावहु प्रान पियारे ॥

"हे पृथ्वी ! कहाँ हैं हमारे माखन चोर और चित-चोर कृष्ण ? बताओ तो तुमने हमारे प्राण प्यारे कृष्ण को कहाँ छिपा रक्खा है ?

१६—अहो तुलसी कल्यानि ! सदा गोबिंद-पद-प्यारी ।
क्यों न कहति तू नंद-नंदन सो दसा हमारी ॥

"अरी कल्याणकारी तुलसी ? तुम तो सदा कृष्ण के चरणों की प्यारी हो—तुम ही कृष्ण से हमारी विरह-व्याकुल दशा क्यों नहीं कहतीं ?"

१७—अपने मुख चाँदने चलैं सुन्दरि तिन माहीं ?"
जहं आवै तम पुंज कुंज गहबर तरु छाहीं ।।

वहाँ जहाँ घने कुंज और पेड़ों की गहरी छाया के कारण अंधेरा आता था वहाँ वे सुन्दरियाँ अपने ही मुंह के रूप के उजाले में चलती थीं।

१८—इहि विधि बन घन बूझि ढूंढ़ि उनमत की नाईं ।
करन लगीं मन-हरन-लाल-लीला मनभाईं ।।

इस प्रकार घने वन में पागल की भाँति खोजती और पूछताछ करती हुई वे मन को चुरानेवाली सुन्दर लीला करने लगीं।

१९—मोहन लाल रसाल की लीला इनहीं सोहैं ।
केवल तनमय भई कछु न जानति हम को हैं ।।

प्रेम-रस से पूर्ण मोहन (कृष्ण) की लीला इन्हीं को सुहाती है । ये तो बिल्कुल तुम में तल्लीन-लवलीन हो चुकी हैं—वे कुछ नहीं जानतीं कि हम कौन हैं ?

२०—भृंगी भय तें भृंग होत इक कीट महा जड़ ।
कृष्ण भगति तें कृष्ण होन कछु नहिं अचरज बड़ ।।

एक महान जड़ (नीच) भङ्गी कीड़ा भी भय से भृंग बन जाता है फिर वे कृष्ण की प्रेमभक्ति से कृष्ण सी हो जायें को इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

२१—तब पायो पिय पद-सरोज को खोज रुचिर तहँ ।
जब, गद, अंकुश, कुलिस, कमल छबि जगमगात जहँ ।।

तब (उन गोपियों ने) वहाँ प्रियतम (कृष्ण) के पद रूपी कमल का चिन्ह पा लिया। उस चरण में अङ्कित जौ, गदा, अंकुश, बन कमल आदि की छवि जगमगा रही थी।

२२—जो रस सिब अज कमला खोजत जोग-जन-हिय ।
ते सब बन्दन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय ।।

जो चरणधूलि शिव, ब्रह्म और साक्षात् देवी लक्ष्मी तथा योगीजनों के हृदय खोजा करते हैं उसे पाकर ये गोपियाँ उसकी वन्दना करने और उसे अपने सिर पर चढ़ाने लगीं।

२३—देखे ढिग जगमगत तहाँ प्यारी तिय के पग।
चितय परस्पर चकित भईं जुरि चलीं तिहीं मग॥

उन्होंने वहीं निकट ही प्रियतमा के चरण-चिह्न भी जगमगाते हुए देखे। उन्हें देखकर वे आपस में चकराईं और मिल-जुलकर उन्हीं चरण चिह्नों के मार्ग पर चल पड़ीं।

२४—आगे चलि पुनि अवलोकी नवपल्लव सैनी।
जह पिय सुसुम कुसुम लै सुकर गुहो है बेनी॥

फिर आगे चलकर उन्होंने नये पत्तों की पंक्ति देखी जहाँ पर प्रियतम ने सुन्दर फूलों से अपने हाथों उसकी बेणी गूंथी थी।

२५—तह पायौ इक मंजु मुकुर मनि-जटित बिलोलै।
तिहि बूझै, ब्रज बाल बिरह भरि सोउ न बोलै॥

वहीं उन्होंने एक सुन्दर मणियो से जड़ा हुआ बिल्लौरी दर्पण पाया। विरह व्यथिता ब्रज-बालायें उससे भी कृष्ण का पता पूछने लगीं—परन्तु वह भी नहीं बोला।

२६—तर्क करत अपमाहिं अहो यह क्यों कर लीन्ह्यौ।
तिनमें तिनके हिय की जानि उन उत्तर दीन्ह्यौ॥

तब अपने ही मन में तर्क करती हुई कहती हैं—इसे हाथ मे क्यों लिया? तब उनके हृदय की बात जनकर उन्होंने उत्तर दिया—

२७—बेनी गुहन समय छबिलो पाछें बैठो जब।
सुन्दर बदन बिलोकनि पियके अन्तरु भयौ तब॥

कि बेणी गूंथने के समय जब वह छबीला पीछे बैठा तो प्रिय के सुन्दर मुंह के दर्शन में अन्तराय पड़ा।

२८—तातें मंजुल मुकुर लै बाल दिखायो।
श्री मुख का प्रतिबिम्व सखी तब सनमुख आयौ॥

इससे बाला ने अपने हाथ में सुन्दर दर्पण लेकर दिखाया और तब कृष्ण के श्रीमुख का प्रतिबिम्ब सामने ही दिखाई दिया।

२६—धन्न कहत भई ताहि नाहिं कछु मन में कोपीं।
निरमत्सर जे संत तिनकि चूड़ामणि गोपीं॥

तब वे उसे धन्य धन्य कहती हुईं अपने मन में तनिक भी कुपित नहीं हुईं। जो सन्त (साधुजन) मत्सर (ईर्ष्या) भाव से रहित होते हैं उनकी शिरोमणि हैं ये गोपियाँ !

३०—इन नीके आराधे हरि ईश्वर बर जोई।
तातें निधरक अधर सुधारस पीवत सोई॥

इन गोपियों ने ईश्वर रूप कृष्ण को पतिरूप में पूजा है इसलिये निर्भय होकर ये उनके अधरों का अमृत-रस पीती हैं।

३१—आगे चलि पुनि तनक दूरि देखी सो ठाढ़ी।
जासों सुन्दर नन्द कुँअर पिय अति रति बाढ़ी॥

फिर थोड़ी ही दूर चलकर उन्होने उस (राधा) को खड़ी देखा जिससे सुन्दर कृष्ण की अत्यन्त प्रीति थी।

३२—गोरे तन की जोति छूटि चवि छाय रही घर।
मनहुँ ठाड़ी कुंअरि सुभग कंचन अवनी पर॥

उनके गौरवर्ण वाले शरीर की आभा बिखरकर पृथ्वी पर फैल रही थी मानो पृथ्वी पर कोई सोने की बाला खड़ी हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

३३—जनु घन तें बिजुरी बिछुरी मानिनि-तनु काछें।
किधौं चन्द्र सों रूसि चन्द्रिका रहि गई पाछें॥

मानो बादल से सचमुच बिजली ही राधा का स्वरूप धारण करके बिछुड़ गई हो, अथवा चांदनी चन्द्रमा से रूठकर पीछे रह गई हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

३४—नयननि तें जलधार हार धोवत धर धावत।
भँवर उड़ाइ न सकति बास-बस मुख ढिग आवत॥

उनके नयनों से अश्रु-जल की धारा बहती हुई गिर रही थी, उसके मुख की गंध से जो भौंरे आकर मंडराते थे उन्हें भी वह नहीं उड़ा सक रही थी।

३५—'क्वासि क्वासि पिय महाबाहु' यों बदति अकेली।
महा बिरह की धुनि सुनि रोरत खग द्रुम बेली॥

वह एकाकिनी यों कह रही थी—"कहाँ हो, कहाँ हो हे बड़ी बाहुओं वाले प्रियतम कृष्ण !" उसके महान वियोग-क्रन्दन को सुन सुनकर पक्षी, पेड़, लता इत्यादि भी रोने लगे।

३६—दौरि भुजनि भरि लईं सबनि लै लै उर लाईं।
मनहुँ महा निधि खोइ मध्य आधी निधि पाईं॥

राधा को इस दशा में देखकर सबने दौड़कर उसे अपनी भुजाओं में ले लिया (आलिंगन कर लिया) और हृदय से लगा लिया --मानो उन्होंने किसी महान निधि को खोकर बीच में आधी निधि पा ली हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

३७—जित तित तें सब अहुरि बहुरि जमुना तट आईं।
जहँ नँद-नंदन जग-बन्दन पिय लाड़-लड़ाईं॥

तब जिधर तिधर से लौटकर वे सब गोपबालायें यमुना के किनारे उसी स्थल पर आ गईं जहाँ नन्द के पुत्र, संसार के वंदनीय देव, प्रिय कृष्ण ने उनसे प्रेम और प्रीति की थी।

श्री भागवते महा पुराणे दशमस्कंधे रासक्रीड़ायां गोपीविश्लेष वर्णनन नाम द्वितीयोऽध्यायः।

गोपिका गीत उपालम्भ वर्णन

तीसरा अध्याय

१—कहन लगीं अहो कुँअर कान्ह ब्रज प्रगटे जब तें।
अवधि भूति इन्द्रादि इहाँ क्रीड़त हैं तब तें॥

कृष्ण-वियोगिनी व्रजबालाएं कहने लगी—"जब से प्यारे कृष्ण, इस ब्रज-भूमि में प्रकट हुए तब से यहाँ की भूमि की नियत समय तक रहने वाली लक्ष्मी भी शोभा बढ़ाती हैं अथवा इन्द्र जैसे देवता भी मानव प्राणी बनकर क्रीड़ा करते हैं।

२—नैन-मूंदिबो महा शास्त्र लैं हाँसी हाँसी।
मारत हौ कित सुहृथ नाथ बिनु मोल की दासी॥

"हे प्यारे कृष्ण, यह आँखमिचौनी का भयंकर हथियार लेकर तथा यह क्रूर मुसकान की फाँसी लेकर तुम हम बिना मोल की दासियों को क्यों मार रहे हो?

अलं०—यमक।

३—विष तें जल तें व्याल अनल तें चपला झर तै।
क्यों राखी, नहिं मरन दई नागर, नगधर तैं।

"तब तुमने अपने बाल्यकाल में हमें विष से, जल से, सर्प से, वज्रपात से और ज्वाला से क्यों बचाया था, और क्यों हमें नहीं मरजाने दिया था?

[सर्प से यमुना में रहने वाले कालिय नाग की ओर और ज्वाला से दावानल की ओर संकेत है।]

४—जब तुम जसुदा-सुवन भये पिय अति इतराने।
विश्व कुशल के काज विधिहिं बिनती कै आने॥

"जब से तुम यशोदा के पुत्र बने हो तब से बड़े इतराने लगे हो। हम

तुम्हें संसार के कल्याण के लिए विधाता से विनय करके यहाँ ब्रज में लाये हैं।

५—अहो मीत अहो प्रान नाथ यह अचरज भारी।
अपननि जो मरिहौ करिहौ काकी रखबारी ॥

"हे परम मित्र, अहो प्राणों के नाथ, यह बड़ा अचरज है ! यदि तुम अपने ही जनों को यों मारोगे तो फिर रक्षा किसकी करोगे ?

६—जब पशु चारन चलत चरन कोमल धरि बन मैं।
सिल त्रिन कंटक अटकत कसकत हमरे मन मैं ॥

"जब तुम वन में कोमल चरण रखकर पशुओं को चराने चलते थे तो कंकड़, पत्थर घास और काँटे तुम्हारे पाँवों में गड़ते थे परन्तु कसकते हमारे मन में थे।

अलं०—असंगति।

७—प्रनत मनोरथ करन चरन सरसीरुह पिय के।
कहा घटि जैहै नाथ हरत दुःख हमरे हिय के ॥

"हम तुम्हारे आगे प्रणत होकर तुम्हारे कमल चरणों के आगे झुककर विनय करती हैं—हमारे हृदय के दुख दूर करने से तुम्हारा भला क्या घट जायेगा ?

८— फनी फनन पर अरपे डरपे नहिंन नेकु तब।
छबिलो छातिनि धरत डरत कत कुँअर कान्ह अब ॥

"जब (कालिय-नाग-मर्दन के समय) तुमने कालिय सर्प के फण पर पाँव जमाये थे तब तो तुम बिल्कुल भी भयभीत नहीं हुए थे। अब उन्हीं पाँवों को हमारी सुन्दर छातियों पर रखते हुए क्यों सकुचाते हो ? क्यों डरते हो ?

९—जानत हैं हम तुम जु डरत ब्रजराज-दुलारे।
कोमल चरन-सराज उरोज कठोर हमारे ॥

"हम कारण जान गई हैं—कि हे ब्रजराज के दुलारे कृष्ण, तुम क्यों डरते हो ! (कारण यह है कि) तुम्हारे चरण तो कोमल हैं और हमारे स्तन अत्यन्त कठोर हैं।

१०—हरें हरें धरि पीय हर्मांहि तौ प्रान पियारे ।
कत अटवी महिं अटत गढ़त तृन कूट न प्यारे ॥

तो धीरे-धीरे ही उन चरणों को रक्खो प्रियतम, तुम तो हमें प्राणों से प्यारे हो; क्यों जंगल के झंखाड़ों वाड़ों में घूमते हो ? क्या तुम्हारे कोमल चरणों में तिनकों की नोकें नहीं गड़तीं ।

११—सुन्दर पिय को बदनि निरखि को सो जु न भूल्यौ ।
रूप सरोवर माँहिं सरद अंबुज जनु फूल्यौ ॥

श्री भागवत महा पुराणे दशमस्कन्धे रासक्रीड़ायां नन्ददास कृतौ
गोपिका गीत उपालम्भ वर्णनोनाम तृतीयोऽध्यायः ।

गोपी-विरह तापोपशमनं

चौथा अध्याय

१—यहि बिधि प्रेम-सुधानिधि में अति बढी कलोलें ।
ह्वै गईं बिह्वल बाल लाल सों अलबल बोलें ।।

इस प्रकार प्रेम-अमृत के समुद्र में बडी-बड़ी लहरें लहराने लगीं। ब्रज-बालायें विरह की वेदना से व्याकुल हो गईं और प्रेम में ढिठाई से व्यंगवचन कहने लगीं ।

२—तब तिनहीं निकसे नन्द नन्दन पिय यों ।
दृष्टि बंध कै दुरै बहुरि प्रगटै नटवर ज्यौं ।।

तब उन्हीं में से प्यारे कृष्ण इस प्रकार निकल आये, जैसे कोई चतुर नट या जादूगर सबकी दृष्टि को बांध कर छिप जाये और पुनः प्रकट हो जाये ।

३—पीत बसन बनमाल बनी मंजुल मुरली हथ ।
मन्द मधुरतर हँसत निपट मनमथ के मनमथ ।।

उनके शरीर पर सुन्दर पीताम्बर था, और हाथ में सुन्दर मुरली थी। वे कामदेव के मन को भी विचलित कर देनेवाली मन्द मधुर हँसी हँस रहे थे ।

अलं०—यमक, अनुप्रास ।

४—पियहिं निरख तिय वृन्द उठी सब इकै बार यौं ।
परि घट आये प्रान बहुरि उभकत इन्द्री ज्यों ।।

प्रिय को देखकर सब स्त्रियाँ एकाएक मूर्च्छावस्था से उठ खड़ी हुईं—जैसे शरीर में प्राण आ जाने पर मृत पड़े अङ्ग पुनः चंचल हो उठते हैं ।

अलं०—उपमा ।

५—महा छुधित कों जैसे आसन सों प्रीति सुनो है।
ताहू ते सौं गुनी सहस गुनि कोटि गुनी है॥

अथवा जैसे किसी अत्यन्त भूखे (व्यक्ति) को भोजन से जैसी प्रीति होती है उससे भी सौ गुनी, हजार गुनी, कोटिगुनी उनकी (कृष्ण से) प्रीति थी।

६—कोउ चटपटि सों उर लपटी कोउ करबर लपटी।
कोउ गल लपटी कहति भलै बड़ कान्हर कपटी॥

सजग होते ही कोई चटपट उनके हृदय से लिपट गई, कोई गले से लिपट गई, कोई उनके गले से लिपट गई और कहने लगी कि कान्ह (कृष्ण) तुम बड़े कपटी हो।

७—कोउ नगधर-बर पिय की गहि रहि परिकर पटुकी।
जनु नवघन तें सटकि दामिनी घटा सु अटकी॥

कोई कृष्ण के फेंटे के पटुके को पकड़ कर रह गई—मानों नये घन से निकल कर बिजली (शरीर से या) घटा से अटक रही हो।

८—बैठे पुनि तिहि पुलिन आनन्द भयो है।
छबिली अपने छादन छबि सों बिछा दयों हैं॥

फिर वे उस यमुना के तटपर बैठ गये और वहाँ बड़ा आनन्द-मंगल छा गया। उन सुन्दरियों ने अपनी अपनी ओढ़नियाँ सुन्दरतापूर्वक बिछा दीं।

९—एक एक हरि देव सबहि आसन पर बैसे।
किए मनोरथ पूरन जिन मन उपजे जैसे॥

कृष्ण, तब एक एक करके सभी के बिछाये हुए चीर-आसन पर बैठे और जिन (गोपियों) के मन में जो इच्छा उत्पन्न हुई वह उन्होंने पूरी की।

१०—ज्यों जोगीस्वर अनेक हिय मे ध्यान धरत हैं।
इकहि बेर इक मूरति सब कों सुख वितरत है॥

—जैसे अनेक योगीराज एक भगवान का हृदय में ध्यान करते हैं और भगवान् कृष्ण एक ही मूर्ति (रूप) से सबको सुख प्रदान करते हैं।

११—कोटि कोटि ब्रह्मांड जदपि इकली ठकुराई।
ब्रज-देविन की समा माँबरे अति छवि पाई॥

यों तो करोड़ों करोड़ों अर्थात् असंख्य ब्रह्माण्ड पर एक मात्र उन्हीं का प्रभुत्व है परन्तु ब्रज वालाओं की सभा में तो श्यामसुन्दर कृष्ण ने अत्यन्त शोभा पाई।

१२—त्यों सब गोपिन सनमुख सुन्दर श्याम बिराजै।
ज्यों नवदलिन मंडलहि कमल कर्णिका भ्राजै॥

उसी प्रकार, सब ब्रजसुन्दरियों के आगे सुन्दर कृष्ण विराजमान् थे जैसे कमल की नई नई पंखुड़ियों के मण्डल (चक्र) के बीच में कर्णिका (वह मध्यभाग जिसमें पराग-केशर रहता है) सुशोभित हो।

अलं०—उपमा।

१३—बूझन लागीं नवल बाल नद लाल पियहिं तब।
प्रीति रीति की बात मनहिं मुसकाति जाति सब॥

तब प्रियतम कृष्ण से वे सब नवयुवतियाँ प्रश्न करने लगीं और प्रीति-रीति कीं बात करती हुँई मन हीं मन में मुसकराती जाती थीं।

१५ -इक भजतें कों भजै एक अनभजतनि भजहीं।
कहो कान्ह तें कवन आहि जे दुहुँ अनि तजहीं॥

एक तो भागते हुये का भजन करते हैं अर्थात नश्वर जगत् के भोग विलास में लगे रहते हैं ऐसे 'अज्ञानी' हैं, और एक न भागते हुए का भजन करते हैं—अर्थात् शाश्वत परब्रह्म का ध्यान करते हैं-ऐसे ज्ञानी हैं, अरे कृष्ण कहो वे कौन है जो इन दोनों को ही छोड़ देते हैं ?

(दूसरा अर्थ) कुछ तो अपने को जो भजता (अर्थात् प्रेम करता) है उससे प्रेम करते है—यह पारस्परिक प्रेम हुआ, और कुछ जो अपने से प्रेम नहीं करता उससे भीं प्रेम करते हैं—यह एकांकी प्रेम हुआ। श्रीकृष्ण कहो—ऐसे कौन हैं जो दोनों को छोड़ देते हैं—न अपने प्रेमी को प्रेम करते हैं और न प्रेम करने वाले को भी निस्वार्थ प्रेम करते हैं।

अर्थात् तुम बड़े निष्ठुर हो।

१५—जदपि जगत-गुरु नागर जसुमति-नन्द-दुलारे।
पै गोपिन के प्रेम अग्र अपने मुख हारे॥

यद्यपि नन्द और यशोदा के दुलारे कृष्ण संसार के चतुर गुरु हैं। परन्तु गोपियों के प्रेम के आगे अपने ही मुँह से हारे हुये हैं।

१६—तव बोले पिय नव किशोर हम ऋनी तिहारे।
अपुने हिय तें दूरि करो सब दोष हमारे॥

तब नबल किशोर प्यारे कृष्ण ने कहा—हम तुम्हारे ऋणी हैं। तुम अपने हृदय से हमारे सब दोष दूर करदो।

१७—कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रतिउपकार करो जौ।
हे मनहरनी तरुनी उऋन न होउं तवो तौ॥

करोड़ों-करोड़ों कल्प तक यदि मैं तुम्हारे प्रति उपकार करूँ तो भी हे मन को रिझाने वाली नवयुवा गोपियो! मैं तुम लोगों से उऋण न हो सकूंगा।

१८—सकल विश्व अप बस करि मो माया सोहति है।
मोह-मई तुम्हरी माया सोइ मोहि मोहति है॥

मेरी माया समस्त विश्व-ब्रह्मान्ड को अपने वश में किए हुये है, परन्तु तुम्हारी मोहमयी माया तो ऐसे मुझको भी मोह रही है।

इतिश्री भागवते महापुराणे दशम स्कन्धे रासक्रीड़ायां गोपी
विरह तापोपशमन नाम चतुर्थोध्याय:।

———

रास क्रीड़ा

पाँचवाँ अध्याय

१—सुनि पिय के रस वचन सवनि गँसि छांड़ि दयौ है।
विहँसि आपने उर सौं लाल लगाय लयौ है ॥

प्रियतम (कृष्ण) के इस प्रकार के प्रेमरस से भरे वचन सुनकर सब गोपियों ने मान रोष और मनोमालिन्य छोड़ दिया और हंसकर कृष्ण को अपने हृदय से लगा लिया।

२--कोटि कलपतरु लसत बसत पद पंकज छांहीं।
कामधेनु पुनि कोटि कोटि बिलुठत रज मांहीं ॥

जिनकी पद-कमल की छाया में (मनवांछित वस्तु प्रदान करने वाले) करोड़ों कल्पवृक्ष बसते हुए सुशोभित होते हैं और इसी प्रकार (मनोकामना पूरी करने वाली) कोटि कोटि कामधेनुएं जिसकी धूल में लोटती हैं।

३—सो पिय भए अनुकूल तूल कोउ भयो न है अब।
निरबधि सुख को मूल सूल उनमूल करी अब ॥

ऐसे प्रिय (कृष्ण) आज उनके अनुकूल हो गये हैं। तब उनके समान भाग्यशाली और धनी न कोई था, न कोई है। वह अनन्त सुख आनन्द का मूल है और सब दुखों को दूर करने वाला है।

४—आरंभित अदभुत सु रास उहि कमल-चक्र पर।
नमित न कितहूं होइ सबै निरतत विचित्र वर ॥

तब उसी कमल चक्र पर कृष्ण-गोपियों में अद्भुत रास-नृत्य का आरम्भ हुआ—वे सब उस नृत्य में लीन थीं, कोई तनिक भी झुकती न थी।

('रास' प्राचीन काल की एक प्रचलित नृत्य क्रीड़ा है जिसमें स्त्री पुरुष चक्राकार (घेरे में) बँधकर नाचते गाते थे। इसका अवशेष अब भी गरबा के रूप में है।

५—नव मर्कत-मनि श्याम कनक-मनिगन ब्रज बाला।
वृन्दावन कों रीझि मनहुं पहराई माला ॥

उस रास-मण्डल में कृष्ण नीलम (मणि) के समान सुशोभित हैं और गोपियाँ स्वर्ण मणियों की भाँति ।—मानों इन्होंने वृन्दावन पर मुग्ध होकर उसे वह माला पहिना दी हो ।

६—नूपुर, कंकन, किंकिन करतल मंजुल मुरली ।
ताल मृदंग चँग एकै सुर जुरली ॥

उस रास नृत्य में नूपुर (घुंघरू) कंकण, किंकणी (करधनी) ताली और सुन्दर वंशी—सब मृदंग, उपंग (नम तरंग) और चंग (डफ का-सा एक बाजा) सबकी ध्वनि और ताल एक ही स्वर में लीन थे ।

७—मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली धुनि ।
मधुर जंत्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि ॥

कोमल पखावजों की टंकार उच्च स्वर की झंकार से मिल गई और मधुर तंत्री (वीणा की तान) भंवर की गुंजार से मिल गई ।

८—तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की ।
लटकनि मटकनि झलकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की ॥

इसी प्रकार कोमल पांवों की धमक और करतारों (बाजे हाथ की तालियों) की चटक तथा सुन्दर कर्ण कुण्डल और गले के हारों की लटक, मटक और झलक परस्पर एकरस हो गई थी ।

अलं०—वृत्यानुप्रास, मीलित ।

९—साँवरे पिय सँग निरतत चंचल ब्रज की बाला ।
मनु घन-मण्डल खेलत मञ्जुल चपला माला ॥

श्यामल प्रिय कृष्ण के साथ चंचल गोपियाँ नृत्य करती हुई ऐसी प्रतीत होती थीं मानो घन के झुंड में सुन्दर बिजलियाँ क्रीड़ा करती हों ।

१०—चंचल रूप लतनि संग डोलति जनु अलि-सैनी ।
छबिली तियन के पाछें आछें बिलुलित बेनी ॥

अलं०—उत्प्रेक्षा ।

उन गोपियों रूपी चंचल रूप की लताओं के साथ मानों भौंरों की पंक्ति मंडरा रही थी क्योंकि उन सुन्दर स्त्रियों के पीछे सुन्दर वेणी हिल डुल रही थी ।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

११—मोहन पिय की मलकनि ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे फरकन पियरे पट की॥

प्रिय कृष्ण की आँखों की बाँकी छटा और मोर मुकुट का झुकाव तथा पीताम्बर का फर-फर करना मेरे मन में नित्य बसा करें।

अलं०—स्वाभावोक्ति।

१२—कोउ सखि कर पर तिरपि बाँधि निरतत छबिली तिय।
मानहुँ करतल फिरत लट्टू लखि लट्टू होय पिय॥

कोई सुन्दरी सखी के हाथ पर तिरप बाँध कर नृत्य करती है मानों हथेली पर लट्टू घूमते देखकर—प्रिय कृष्ण लट्टू होते हैं—रीझते हैं।

विशेष—तिरप—नृत्य की एक मुद्रा। अलं०—उत्प्रेक्षा, यमक।

१३—कोउ नायक को भेद भाव लावन्य रूप सब।
अभिनय करि दिखारावति गावत गुन पिय के जब॥

कोई (कृष्ण) प्रिय के गुण गाती हुई—'कृष्ण नायक के भेदभाव और रूप-सौन्दर्य को अभिनय करती हुई दिखलाती है।

१४—तब नागर नन्दलाल चाहि चित चकित होत यों।
निज प्रतिबिब विलास निरखि सिसु भूलि रहत ज्यों॥

तब चतुर कृष्ण उस को देखकर (या उस पर रीझकर) इस प्रकार चित्त में चकित होते हैं जैसे अपने ही प्रतिबिम्ब की छटा देखकर कोई शिशु उसमें तन्मय हो जाता है।

अलं—उपमा

१५—रीझि परस्पर वारत अम्बर भूषन अंग के।
और तबहि बनि रहत तहाँ अद्भुत रँग रँग के॥

वे आपस में रीझकर अपने अंगों के वस्त्र और आभूषण निछावर करते हैं और वहाँ रंग-बिरंगे अद्भुत वस्त्राभूषण आदि सुशोभित होते हैं।

१६—कोउ मुरली संग रली रँगीली रसहि बढ़ावति।
कोउ मुरली को छेकि छबीली अद्भुत गावति॥

कोई गोपी मुरली के साथ तन्मय होकर राग रंग भरी प्रेम के आनन्द को बढ़ाती है और कोई छबीली मुरली को रोक कर (बजाना बन्द करके) स्वयं मधुर स्वर से अद्भुत राग गाती है।

१७—ताहि साँवरों कुँवर रीझि हँसि लेत भुजनि भरि ।
चुम्बन करि सुख-सदन वदन तैं दै तमोल ढरि ॥

उस सुन्दरी को श्यामल कुमार कृष्ण रीझकर मुस्कराते हुए अपने आलिंगन में भर लेते हैं और अनन्त सुख प्रदान करने वाले मुख से उसका चुम्बन करके अनुरक्त हुए उसे पान का लाल चिह्न देते हैं।

१८—जग मैं जो संगीत नृत्य सुर नर रीझत जिहिं ।
सो ब्रज तियन को सहज गवन आगम गावत तिहि ॥

संसार में जिस संगीत और नृत्य पर देवता और मनुष्य गण रीझते हैं और वेद-पुराण भी जिस संगीत की प्रशंसा करते हैं वह इन ब्रजबालाओं को सहज सुलभ है।

१९—जो ब्रजदेवी निरतत मण्डल रास महाछबि ।
सो रस कैसे वरनि सके इह ऐसो को कबि ॥

जो ब्रजबालायें इस महान सुन्दर रास-मण्डल में नृत्य करती हैं उनके रस का कोई वर्णन कर सके ऐसा कौन कवि है ?

२०—राग रागिनी समुझन कौं बोलिबौ सुहायो ।
सो कैसे कहि आवै जो ब्रज-देविन गायो ॥

जो राग-रागिनी को समझते हैं अथवा राग-रागिनी के समान जिनका बोलना अच्छा लगता है—वे वर्णन कर सकते हैं परन्तु जो ब्रज देवियों ने गाया है उसका वर्णन कैसे हो सकता है—वह तो अवर्णनीय है।

अथवा जिनका बोलना ही राग-रागिनी के समान मधुर है उन ब्रज देवियों के गायन का क्या वर्णन हो सकता है।

२१—ग्रीव ग्रीव भुज मेलि केलि कमनीय बढ़ी अति ।
लटकि-लटकि वह निर्तनि कापै कहि आवै गति ॥

ग्रीवा से ग्रीवा और बाहों में बांहें डालकर, जब उनकी वह सुन्दर रास क्रीड़ा उत्कर्ष पर पहुँची तो—उनकी चटक मटककर नाचने की उस मनोभावनी

मुद्रा का कैसे वर्णन किया जाय—

२२—अद्‌भुत रस रह्यो रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चलो सलिल ह्वै रह्यो सिला पुनि॥

वह रास एक अद्‌भूत 'रस' था—(अथवा उसमें एक अलौकिक आनन्द था) उसके गीत की ध्वनि सुनकर ज्ञानी मुनि जन भी मोहित हो गये। उसे सुनकर जड़ शिला द्रवित होकर जल बन गईं और द्रवित जल स्तब्ध होकर शिलावत् हो गया।

२३—पवन थक्यो, ससि थक्यौ, थक्यौ उडु-मण्डल सिगरौ।
पाछैं रवि-रथ थक्यौ, चलै नहिं आगे डगरौ॥

निरन्तर रहने वाला पवन उसके सम्मोहन से थक गया। इसी प्रकार चन्द्रमा भी थक गया और समस्त नक्षत्र मण्डल (तारों का समूह) भी थक गया। सूर्य का रथ भी थक गया और उसका आगे मार्ग चलना बन्द हो गया।

२४—थकित सरद की रजनी, न जनी केतिक बाढ़ी!
बिहरत सजनी स्याम, जथा रुचि अति रति बाढ़ी॥

शरद ऋतु की नई रात्रि भी थक गई—पलके रुक जाने से वह बड़ी लम्बी हो गई। उसमें श्याम और सखियाँ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विहार कर रहे थे और उनकी प्रीति अत्यन्त बढ़ी हुई थी।

२५—इहि बिधि विविध बिलास बिलसि निस कुंज सदन के।
चले जमुन जल क्रीड़न ब्रीड़न वृन्द मदन के॥

इस प्रकार अपने कुञ्ज-कुटीर में रात्रि भर भाँति-भाँति की प्रेम क्रीड़ा और विलास करने के अनन्तर वे यमुना के जल में क्रीड़ा करने और काम देव के समूहों को भी लज्जित करने के लिये चले—

२६—उरसि मरगजो माल चाल मद गद जिमि मलकत।
घूमत रस भरे नैन गंडस्थल श्रमकन झलकत॥

उनके हृदय (वक्ष) पर रास-क्रीड़ा में कुचली या मसली हुई वरमाला थी। उनकी चाल मदमत्त हाथी की भाँति थी। उनके प्रेम आनन्द से भरे

नेत्र इधर उधर घूम रहे थे और उनके कपोलों पर पसीने की बूंदें झलक रही थीं।

अलं०—उपमा, अनुप्रास।

२७—धाय जमुन जल धँसे लसे छवि परति न बरनी।
विहरत मनु गजराज संग लिए तरुनी करनी॥

तब दौड़कर वे सब यमुना-जल में जा घुसे, उनकी वह शोभा कही नहीं जा सकती- मानों गजराज (विशाल हाथी) हथिनियों को साथ लेकर विहार कर रहा हो।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

२८—तियान के पन जल-मगन बदन तहुँ यो छवि छाये।
फूली है जनु जमुन कनक के कमल सुहाये॥

जल क्रीड़ा में लीन उन युवा स्त्रियों के अंग और मुख जल में डूबे हुए थे—और उनकी ऐसी शोभा थी—मानों यमुना नदी में सोने के सुहावने कमल फूले हुए हों।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

२९—मंजुल अंजुलि भरि भरि पिय कों तिय जल मेलत।
जनु अलि सों अरविंद-वृन्द मकरन्दनि खेलत॥

गोपियां अपनी सुन्दर अंजलियों में पानी भर भर कर प्रिय के ऊपर डाल रही थीं; मानों कमल के समूह भौंरों से मकरन्द के द्वारा खेल रहे हों।

अलं०— उत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

३०—यह अद्‌भुत रस-रासि कहत कछू नहि कहि आवै।
सुक सनकादिक नारद सारद अतिसय भावै॥

इस जल-विहार की अद्‌भुत आनन्द की राशि का वर्णन नहीं किया जा सकता। शुकदेव, सनक, नारद, जैसे प्रसिद्ध विरागी और ज्ञानी मुनि तथा कला संगीत देवी शारदा को भी वह अत्यन्त प्रिय लगता है।

अलं०—छेकानुप्रास, अतिशयोक्ति।

३१—सिव मन ही मन ध्यावैं काहू नाहिं जनावैं।
सेस सहसमुख गावैं अजहू अन्त न पावैं॥

योगिराज शंकर भगवान् मन ही मन उसका ध्यान करते हुए आनन्द पाते हैं, किसी से व्यक्त नहीं करते। शेषनाग अपने सहस्र मुखों से इसका वर्णन करते हैं फिर भी अन्त नहीं पाते।

अलं—अतिशयोक्ति।

३२—अंज अजहूँ रज बांछित सुन्दर वृन्दाबन को।
सो न तनक कहुँ पावत सूल मिटत नहि तन को॥

ब्रह्मा अब भी बृन्दाबन की यह सुन्दर मनचाही रेणु चाहते हैं परन्तु उसे नहीं पा सकते, पछताते हैं—उनके मन की वेदना नहीं मिटती।

३३—जदपि पद-कमल कमला अमला सेवत निसिदिन।
यह रस अपने सपनैं कबहूँ नहि पायौ दिन॥

यद्यपि विष्णुरूप कृष्ण के चरण-कमलों की सेवा लक्ष्मी नित्यही किया करती हैं परन्तु यह आनंद उन्होंने सपने में भी, रंच मात्र भी नहीं प्राप्त किया।

३४—बिनु अधिकारी भये नहिन वृन्दावन सूझै।
रेनु कहां तें सूझै जब लौं वस्तु न बूझै॥

वास्तव में, बिना इस प्रेम-आनंद का अधिकारी हुए वृंदावन सूझ ही नहीं सकता, जब वस्तु (वृंदावन) का ही दर्शन नहीं हो सकता तो उसकी रेणु का दर्शन तो दुर्लभ है।

३५— निपट निकट घट में ज्यों अन्तरजामी आही।
विषय विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहि ताहीं॥

जो अंतर्यामी (भीतर की जानने वाला) भगवान् अपनी आत्मा या हृदय में अत्यंत ही निकट ही रहता है, उसे भी विषय के कारण विकारयुक्त हुई इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं।

३६—जो यह लीला गावै चित दे सुनै सुनावै।
प्रेम-भगति सों पावै अरु सब कै मन भावै॥

इस रासलीला का जो गायन करेगा और तन्मय चित्त से सुने-सुनायेगा वह प्रेम-रूपिणी भक्ति पा सकेगा और सबको प्रिय हो सकेगा।

३७—हीन असर्धा निंदक नास्तिक धरम-बहिमुंख।
तिन सों कबहुं न कहै, कहै तो नहिन लहै सुख॥

इस लीला को नीच, श्रद्धा-हीन, धर्म निंदा करने वाले नास्तिक और अधर्मी के प्रति कभी न कहे-और जो कहेगा तो वह इस सुख को नहीं पा सकेगा।

३८--भगत जनन सों कहु जिनके भागवत धरम बल।
क्यों जमुना के मीन लीन नित रहत जमुन जल॥

उन भक्तजनों से यह लीला कहो—जिसको भगवत धर्म का बल है, जो भगवद्भक्ति में उसी प्रकार मग्न रहते हैं जैसे युमुना के जल में उसकी मछलियां डूबी रहती हैं।

३६—ज़दपि सप्त निधि भेदत जमुना निगम बखानैं।
ते तिहि धारहिं धार रमत न छुअत जल आनै॥

यद्यपि वेद युमना को सातों समुद्रों का भेद करने वाली कहता है—वे उसकी धार में ही क्रीड़ा करती हैं और अन्य जल का स्पर्श नहीं करतीं।

४०—यह उज्ज्वल रस-माल कोटि जतनन कै पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जिनि कोई॥

मैंने यह उज्ज्वल रस की मुक्तामाला करोड़ों यत्न करके गुथी है इसे बड़ी सावधानी से अपने कण्ठ में पहनिये और तोड़िये नहीं।

अलं०—रूपक।

४१—श्रवन-कीर्तन सार सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार स्त्रुतिसार गहत गुनि॥

श्रवण, कीर्तन, वस्तुत: भगवान के नाम-स्मरण का सार है; गुनीजन उसे ज्ञान का, हरि के ध्यान का और वेद का सार मानते हैं।

४२—अघहरनी मन-हरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
'नन्ददास' के कंठ बसौ नित मंगल-करनी॥

यह पापों को दूर करनेवाली, मन को लुभानेवाली सुंदर प्रेम-भाव नंददास (कवि) के कण्ठ में नित्य रहे।

अलं० —श्लेष

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमस्कंधे रासक्रीडायां नंददास कृतौ पचमोऽध्याय:।

भ्रमर-गीत (भँवर गीत)

उद्धव का कृष्ण-सँदेश

ऊघो को उपदेश सुना ब्रज-नागरी ।
रूप, सील, लावन्य सबै गुनि आगरी ॥
प्रेम-धुजा, रस-रूपिनी, उपजावनि सुख-पुंज।
सुन्दर स्याम-विलासिनी, नव वृन्दावनकुंज ॥
सुनौ व्रजनागरी ॥ १ ॥

हे ब्रजबालाओ (गोपियो) ! तुम सब सौंदर्य, शील और सभी गुणों व खान हो ! तुम उद्धव का उपदेश सुनो । तुम प्रेम की फहराती हुई ध्वज हो, तु रस (शृंगार और आनन्द) की मूर्ति हो और सुख उत्पन्न करने वाली हो तथ वृन्दावन के नित्य नवीन रहने वाले कुंज मे श्यामसुन्दर के साथ विलास-लील करने वाली सुन्दरियाँ हो—उद्धव की बात सुनो ।

अलं—परिकर (साभिप्राय विशेषण पदों का प्रयोग) और अनुप्रास ।

कहन स्याम-संदेश एक मैं तुम पै आयौ ।
कहन समै संकेत कहूँ ओसर नहिं पायौ ॥
सोचत ही मन मैं रह्यौ, कब पाऊँ एक-ठाउँ ।
कहूँ संदेश नंदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ ॥
सुनौ ब्रजनागरी ॥ २ ॥

श्याम (कृष्ण) का एक प्यारा संदेश—तुमसे कहने को यहाँ आया हूँ परन्तु उसे कहने का मैंने अब तक एकान्त स्थान और अवसर नहीं पाया मैं मन में सोचता ही रहा कि कहीं ऐसा स्थल मिले जहाँ तुरन्त ही कृष्ण क

वह संदेश तुमसे कहकर (इस प्रकार अपना कर्त्तव्य पूरा कर) मथुरा लौट जाऊं। हे ब्रजबालाओ सुनो—

[यहाँ-'एक'-पद विशेष द्रष्टव्य है। मैं तुमसे केवल एक या अद्वितीय संदेश कहने आया हूं अथवा केवल मैं ही वह संदेश लाया हूं और कोई नहीं ला सकता।]

ब्रजबालाओं का प्रेम

सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनंद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सब अंग भए भरि आए जल नैन।
कठ घुटे गदगद गिरा बोल्यो जात न वैन॥
विवस्था प्रेम की॥ ३॥

ब्रजबालायें उद्धव से कृष्ण का नाम सुनते ही अपने घर और ग्राम की सुधि एक दम भूल गईं। प्रेम के आनन्द का रस हृदय में भर आया और वे प्रेम की लतायें (गोपियां) उससे फूल उठीं।

उनके अंग-अंग में प्रसन्नता से रोमांच होगयां—(प्रेम की स्थिति में शरीर में रोम उठ खड़े होते हैं) और आंखों में विगत स्मृतियों से आंसू उछल उठे। उनके कण्ठ रुंध गये, उनकी वाणी गद्गद् हो गई (गला भर आया) और वे कुछ न बोल सकीं। वस्तुतः प्रेम की ऐसी ही परिपाटी या परम्परा होती है।

[इस छन्द में शृंगार रस के अनुभाव कौशलपूर्वक व्यंजित हुए हैं। रोमांच अश्रु, स्वरभंग शृंगार इस के सात्विक अनुभाव हैं। अतः रस परिपाक में सहायक हुए हैं।]

अलं०—स्वाभावोक्ति, अनुप्रास।

कथोपकथन

अर्घासन बैठाय बहुरि परिकरिमा दीनी।
स्याम-सखा निज जानि बहुत हित सेवा कीनी॥
बूझत सुधि नंदलाल की बिहँसत मुख ब्रज-बाल।

ब्रज—नीके हैं बलबीर जू, बोलनि बचन रसाल ॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥ ४ ॥

उद्धव को अर्घ्य पूर्वक आसन पर बिठलाकर, फिर सबने उनकी परिक्रमा की । उन्हें अपने श्याम के सगे मित्र जानकर उनकी बड़ी सेवा (अभ्यर्थना) की ।

फिर मुसकराते मुंह से गोपियां उनसे कृष्ण की बातें पूछने लगीं । वे मीठे स्वर से बोलीं कि हे श्याम के सखा सुनो, हमारे कृष्ण (बलबीरजू) कुशलतापूर्वक तो हैं न वहां ?

वि०—उद्धव से सबसे पहिले कृष्ण की कुशल-क्षेम पूछना हृदय के प्रेम-भाव की उत्कटता का व्यंजक है ।

उद्धव—कुसल स्याम अरु राम कुसल संगी सब उनके ।
जदुकुल सिगरे कुसल परम आनंद सबिन के ॥
बूझन ब्रज कुसलात कौं ह्वौं आयौ तुम तीर ।
मिलिहैं थोरे दिवस में जनि जिय होहु अधीर ॥
सुनौ ब्रजनागरी ॥ ५ ॥

उद्धव ने उत्तर दिया—हे ब्रजबालाओ, सुनो । तुम्हारे कृष्ण और बलराम तथा उनके सब संगी-साथी आनन्दपूर्वक हैं । यदुवंश में सभी कुशल से हैं—सब बड़े आनन्द में हैं ।

मैं तुम लोगों के पास ब्रज का कुशल-मंगल पूछने आया हूं कृष्ण तुमसे थोड़े ही दिनों में मिलेंगे—तुम अपने जी में अधीर (व्याकुल) न होओ ।

सुनि मोहन-संदेस रूप सुमिरन ह्वै आयौ ॥
पुलकित आनन कमल अंग आवेस जनायौ ॥
बिहवल है धरनी परीं ब्रज-बनिता मुरझाय ।
दै जल छींट प्रबोधहीं ऊधौ बैन सुनाय ॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥ ६ ॥

कृष्ण का यह प्रेम-संदेश सुनकर गोपियों को उनके मनमोहन रूप का स्मरण हो आया । उस स्मृति से उनका मुख रूपी कमल खिल उठा और उनके अंग अंग मे प्रेम की उमंग उठने लगी ।

ब्रजबालायें उस प्रेम की अधिकता से विह्वल होकर धरती पर गिर पड़ी और मूर्छित हो गईं। उनका मुख-कमल पल में ही मुरझा गया।

उद्धव तउ प्रिय वचन कहकर पानी के छीटों से उन्हें होश में लाने का उपचार करने लगे। कहने लगे सुनो, ब्रज की बालाओं !

वि०—वहाँ स्मरण संचारी है।

अलं०—श्लेष तथा परिकर।

उद्धव—वे तुम तें नहिं दूरि स्याम को आँखि देखौ।
अखिल बिस्व भरि पूरि रूप सब उनहिं बिसेखौ॥
लोह दारू पाषान में जल थल महा अकास।
सचर अचर वरतत सवै जोति ब्रह्म-परकास॥
सुनो ब्रजनागरी॥ ७॥

वे तुम्हारे प्यारे कृष्ण तुमसे दूर नहीं हैं। वे दूर कहाँ हैं ? निकट ही तो हैं, तनिक उन्हें अपने ज्ञान की आँख से देखो (तो विदित हो जायेगा।)

इस अखिल विश्व (ब्रह्माण्ड) में उन्हीं का तो सुन्दर रूप पूर्ण रूप से भरा हुआ है।

लोहे में, लकड़ी में, पत्थर में, जल में, थल में, पृथ्वी में, आकाश में, चर और अचर (अर्थात् चेतन और जड़) सभी पदार्थों में उन्हीं (कृष्णरूप) ब्रह्म की ज्योति का प्रकाश (रमा हुआ या) छाया है।

[ज्ञानियों का "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सिद्धतं यहाँ निरूपित हुआ है !]

ब्रज०—कौन ब्रह्म को जोति ग्यानि कासौं कहैं ऊधौ ?
हमारे सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सूधौ॥
नैन बैन स्रुति, नासिका मोहन रूप दिखाइ !
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम-ठगौरी लाइ॥
सखा ! सुनि स्याम के॥ ८॥

तब ब्रजबालायें बोलीं—हे श्याम के मित्र सुनो—(अरे तुम यह क्या कहते हो ?) कौन ब्रह्म की ज्योति-रूप है; यह ज्ञान तुम किसे सिखा रहे हो उद्धव ? हमारे तो श्याम-सुन्दर ही सब कुछ हैं—हमारा तो प्रेम का सरल सीधा मार्ग है (योग और ज्ञान का जटिल और टेढ़ा पन्थ नहीं)।

हम क्या बतायें तुम से—उन मनमोहन कृष्ण ने अपने नयन, अपने वचन, अपके कान, अपनी नाक आदि का मोहक रूप दिखाकर—अन्त में अपनी (अमृत-रस बरसाने वाली) वंशी बजाकर प्रेम की मोहिनी डालकर हमारी सारी सुध-बुध छीन ली है—तब हम कैसे उन्हें ज्ञान की आँख से देखें।

मिलाइए—अति सूधो सनेह को मारग हैं···(घनानन्द)

उद्धव—निगुँन सबै उपाधि रूप निगुँन ले उनको।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनों गुन को॥
हाथ पाँव नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकासिका, सकल बिश्व के प्रान॥
सुनो ब्रजनागरी॥

तब उद्धव अपने ज्ञान का उपदेश देते हुए बोले—

हे ब्रजबालाओ, सुनो यह सब सगुण साकार रूप की उपाधि (प्रपंच या दोष) है; परन्तु-ब्रह्म-रूप कृष्ण तो निर्गुण निराकार रूप हैं क्योंकि वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। वे निर्विकार (विकार रहित) और निर्लिप्त (लगाव-रहित) हैं अर्थात् उन्हें कोई विकार नहीं होता और न वे रूप बदलते हैं। उन्हें सत-रज और तम तीनों गुण प्रभावित नहीं करते।

(सत्य यह है कि) उन (परब्रह्म) के न हाथ हैं न पाँव, न नाक है न कान हैं और न आँख हैं न वाणी (अर्थात् जीव); वे साकार (सगुण) नहीं हैं। वे तो कभी नष्ट या मन्द न होने वाली ज्योति का प्रकाश करते हैं। वे समस्त विश्व के प्राण तत्त्व हैं।

ब्रज०—जो मुख नाहिंन हुतो कहो किन माखन खायो?
पायन बिन गो संग कहो को बन बन धायो?
आँखिन में अंजन दियो, गोवरधन लियो हाथ।
नंद-जसोदा पूत है कुँवर कान्ह ब्रजनाथ॥
सखा! सुनि श्याम के॥ १०॥

ब्रजबालाएँ तर्क करने लगीं—हे श्याम के सखा, सुनिये! यदि उन (कृष्ण) के मुख नहीं (था) तो उन्होंने यहाँ माखन कैसे खाया था? यदि उनके

पाँव नहीं (थे) तो बताइए गौग्रों के साथ वन-वन कौन दौड़ा था ? ग्राँखें नहीं (थी) तो ग्रञ्जन कैसे दिया था ? हाथ में उन्होंने तो गोवर्द्धन पर्वत उठाया था ?

हम तो यही जानती हैं कि वे ब्रज के स्वामी कुँवर कृष्ण नन्द ग्रौर यशोदा के पुत्र हैं।

वि०—यहाँ गोपियों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा कृष्ण को सगुण तथा साकार (ब्रह्म) सिद्ध करना चाहा है।

ग्रलं०—ग्रनुप्रास।

उद्धव—जाहि कहौ तुम कान्ह ताहि कोउ पितु नहि माता।
ग्रखिल ग्रंड ब्रह्मंड बिस्व उनहीं में जाता ॥
लीला को ग्रवतार लै धरि ग्राए तन स्याम।
जोग जुगत हो पाइये पारब्रह्म-पद-धाम ॥
सुनौ ब्रजनागरी ॥ ११ ॥

उद्धव ने उत्तर दिया—ब्रजबालाग्रो सुनो—जिसे तुम 'कृष्ण' कह रही हो—उसके न तो कोई पिता है, न कोई माता। वे तो परब्रह्म हैं—यह समग्र पृथ्वी ग्रौर ब्रह्मांण्ड मय विश्व उन्हीं विराट् से उत्पन्न हुग्रा है ग्रौर उन्हीं में लय होता है।

वे परब्रह्म लीला के लिए (सगुण होकर) कृष्ण के रूप में ग्रवतार लेकर ग्राये हैं। परन्तु उन परब्रह्म के परम पद (या स्थान) को योग-साधन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

मिला०—'योगः कर्मसु कौशलम्'—गीता।

ब्रज०—ताहि बताग्रो जोग जोग ऊधो पावौ।
प्रेम सहित हम पास नन्दनन्दन गुन गावौ ॥
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरिपूरि।
प्रेम पियूषे छाँड़िके कौन समेटे धूरि ॥
सखा ! सुनि श्याम के ॥ १२ ॥

इस पर गोपिकाएं बोलीं—हे श्याम के सखा, सुनिए। तुम यह सब जटिल या गम्भीर ज्ञान उन्हें दो, जिन्हें तुम इस 'योग' के योग्य पाग्रो।

(अथवा जिन्हें यह अच्छा लगे) हमारे पास तो तुम केवल नन्द के नन्दन कृष्ण का ही प्रेमपूर्वक गुण गाओ ।

उन मोहन के गुण तो हमारे नेत्रों, जिह्वाओं, मनो और प्राणों में पूर्णरूप से समाये हुए हैं। प्रेम के अमृत को छोड़कर (तुम्हारे 'योग' की) यह धूल कौन समेटे ? (योग-क्रिया के भस्म रमाने की ओर भी संकेत है तथा रजोगुण की ओर भी संकेत है ।)

अलं०—श्लेष, यमक, रूपक तथा लोकोक्ति ।

उद्धव—धुरि बुरी जौ होइ ईस क्यों सीस चढ़ावै ।
धूरि छेत्र में आइ कर्म करि हरिपद पावै ॥
धूरहि तें यह तन भयो धूरहि सों ब्रह्मांड ॥
लोक चतुर्दस धूरि के सप्त दीप नव खण्ड ॥
सुनो ब्रजनागरी ॥ १३ ॥

उद्धव ने उत्तर दिया—

हे ब्रज की बालाओ, यदि धूलि (मिट्टी) बुरी होती, तो कहो उसे महादेव शंकर क्यों अपने सिर (और शरीर) पर चढ़ाते ? फिर इस धूल-क्षेत्र अर्थात भूमि पर आकर ही तो कर्म करके मनुष्य हरि का पद पा सकता है ।

देखो, धूल (मिट्टी) से तो यह मनुष्य शरीर बना है, धूल से ही ब्रह्माण्ड बना है—धूल से ही चौदहों लोक सातों द्वीप और नवों भूखण्ड बने हुए हैं ।

ब्रज०—कर्म-धूरि की बात कर्म-अधिकारी जानैं ।
कर्म-धूरि कों आनि प्रेम-अमृत में सानैं ।
तबही लौं सब कर्म है जब लौं हरि उर नाहिं ।
कर्म बंध सब विस्व के के जीव विमुख ह्वै जाहिं ॥
सखा ! सुनि श्याम के ॥ १४ ॥

तब गोपिकाओं ने कहा—हे श्याम के मित्र, सुनिए । इस कर्म-धर्म या कर्म-धूल की बात कर्म के अधिकारी या पात्र (योग्य व्यक्ति) अर्थात् कर्मवादी जन ही जानैं। (व्यंग्य में) वे ही अपनी कर्म की धूल को लाकर प्रेम के निर्मल अमृत में मिलाया करते हैं ।

वास्तव में कर्म (का प्रपंच) तभी तक तो है, जब तक (कृष्ण रूप) ईश्वर हृदय में नहीं है। कर्म के बन्धन में बँधे हुए संसार के सभी जीव भगवान से विपरीत होकर चलते हैं–हरि से विमुख हो जाते हैं ।

उद्धव—कर्महि निंदौ कहा कर्म तें सदगति होई ।
कर्मरूप तें बली नाहि त्रिभुग्रन में कोई ॥
कर्महि तें उतपत्ति है, कर्महि तें सब नास ।
कर्म किए तें मुक्ति होइ, पारब्रह्म-पुर बास ॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥ १५ ॥

इस पर उद्धव ने तर्क किया—हे गोपीबालाग्रो, तुम इस प्रकार (संसार में) कर्म की निन्दा क्यों करती हो ? अरे, कर्म ही से तो सद्गति होती है—मुक्ति मिलती है। इस त्रिलोक में—स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी में—कर्म से अधिक बलवान कोई वस्तु नहीं है।

कर्म ही के कारण संसार में जीवों की उत्पत्ति है और विनाश है—यहाँ तक कि कर्म करने से ही उनकी मुक्ति होती है और परब्रह्म (परमेश्वर) के नगर (ब्रह्मलोक) वैकुण्ठ में स्थान मिल सकता है।

ब्रज०—कर्म, पाप अरु पुन्य लोह सोने की बेरी ।
पायन बन्धन दोउ कोउ मानौ बहुतेरी ॥
ऊँच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग ।
प्रेम बिना सब पचि मुये विषयबासना रोग ॥
सखा ! सुनि श्याम के ॥ १६ ॥

यह सुन कर गोपियाँ कहने लगीं—हे कृष्ण के सखा, यह तुम्हारा 'कर्म' ही तो पाप और पुण्य है अर्थात् कर्म के साथ ही पाप-पुण्य आजाता है। यही लोहे की और सोने की बेड़ी बनता है। (बेड़ी चाहे सोने की हो चाहे लोहे की) कर्म दोनों पाँवों में एक बन्धन बनता ही है।—चाहे कोई इसे कितना ही माने।

हाँ, ऊँचे (अर्थात् अच्छे) कर्म से स्वर्ग मिलता है, और नीचे (अर्थात् बुरे) कर्म से नरक का भोग। परन्तु शुद्ध प्रेम के बिना वास्तव में सब विषय-वासना के रोग में पच-पच कर मरा करते हैं।

उद्धव—कर्म बुरो जो होइ जौग कोउ काहे धारैं।
पद्मासन सब द्वार रोकि इन्द्रिय कों मारैं॥
ब्रह्माग्रगिन जरि सुद्ध ह्वै सिद्धि समाधि लगाइ।
लीन होइ साजुज्य में जोतैं जोति समाइ॥
सुनो व्रजनागरी!॥ १७॥

उद्धव ने तब उत्तर दिया—हे ब्रजबालाओं, कर्म ही यदि बुरा होता तो योगी योग साधन क्यों करते? वे पद्मासन लगाकर संयम द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं।

योगी ब्रह्म-अग्नि में जल कर, अपने विकारों को भस्म करके शुद्ध होकर सिद्ध के लिए समाधि लगाता है। अन्त में वह सायुज्य मुक्ति में (जिसमें जीव और ब्रह्म एकाकार हो जाते हैं) लीन हो जाता है और (आत्मा की) अंश ज्योति (ब्रह्म की) पूर्ण-ज्योति में समा जाती है।

व्रज०—जोगी जोतिहि भजैं भक्त निज रूपहिं जानै।
प्रेम पियूषै प्रगटि स्यामसुन्दर उर आनै॥
निर्गुन गुन जो पाइये लोग कहैं यह नाहिं।
घर आए नाग न पुजे बाँवी पूजन जाहिं॥
सखा! सुनि स्याम के॥ १८॥

गोपिकाओं ने उत्तर दिया--हे कृष्ण के मित्र सुनिए—

ज्ञानी योगी ज्योति का ध्यान करते हैं। परन्तु भक्त आत्म-रूप अर्थात् उस ब्रह्म के रूप को जानते हैं (भक्त) प्रेम के अमृत को प्रत्यक्ष रूप से पान करते हैं और कृष्ण की मूर्ति को हृदय में लाते हैं!

निर्गुण के विषय में बड़ा झगड़ा है। जब उसका कोई रूप ही नहीं है तो यदि हम निर्गुण ब्रह्म को पा भी लें तो सब लोग कहेंगे यह नहीं है। भला घर आया हुआ नाग तो न पूजें और बाँवी को पूजने जावें! (जब सगुण रूप हमें सर्वथा सुलभ है तो उस निर्गुण रूप की साधना क्यों करें जिससे ब्रह्म की प्राप्ति सन्देहास्पद है!)

अलं०—लोकोक्ति (कहावत का प्रयोग)

उद्धव—जो हरि के गुन होइ वेद क्यों नेति बखाने।
निर्गुन आतमा उपनिषद जो माने ॥
वेद पुराननि खोजिकै नहिं पायो गुन एक।
गुनही के जो होहि गुन कहि अकास किहि टेक ?
सुनो व्रजनागरी ॥ १६ ॥

इस पर उद्धव ने तर्क किया—हे गोपिकाओ सुनो—यदि भगवान के गुण होते तो फिर वेद उसका 'नेति-नेति' (ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है) कह कर क्यों वर्णन करता ? आशय यह है कि परब्रह्म परमेश्वर के जो कुछ नाम रूप-गुण कहे जाते हैं या कल्पित किये जाते हैं वह उन सब के परे है । इसीलिये वह अनिर्वचनीय है, अवर्णनीय है ।

वह तो वस्तुत: निर्गुण (निराकार) है—वही सगुण 'माया' का विधान करके उस पर सुख का आरोप करता है ।

हमने तो वेदों और पुराणों की छानबीन करके देख लिया; परन्तु किसी को परमात्मा मे एक भी गुण नही मिला ।

यदि निर्गुण के (गुणहीन के) ही गुण हों तो (फिर पूछना पड़ेगा कि) बताओ आकाश का आधार क्या होगा ? आशय यह है कि जिस प्रकार आकाश निराधार है, उसी प्रकार ब्रह्म गुण हीन निर्गुण है ।

व्रज०—जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहो कहाँ तें ॥
या गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अनल बारि मिलि कीच ॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥ २० ॥

इस पर गोपियाँ बोलीं—हे कृष्ण के मित्र, यदि परमात्मा के गुण नहीं हैं तो फिर संसार में और गुणों की सत्ता हुई कैसे ? बताए, कि बीज के बिना पेड़ कहाँ से उग सकता है ?

बस संसार रूपी माया के दर्पण में उसी ब्रह्म के गुण की तो प्रतिछाया (परछाईं) है । गुण पृथक् नहीं है केवल ब्रह्म रूप निर्मल जल में माया रूप कीचड़ मिलकर गुण पृथक्-पृथक् दिखाई देने लगे हैं ।

अलं०—दृष्टान्त ।

उद्धव—माया के गुन और और गुन हरि के जानौ ।
या गुन को इन मांझ आनि काहे को सानौ ॥
जाके गुन अरु रूप कौ जान न पायौ भेद ।
तातें निर्गुन ब्रह्म कौ बदत उपनिषद बेद ॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥ २१ ॥

तब उद्धव ने उत्तर दिया—हे ब्रजबालाओ, सुनो—माया (संसार) के गुण और हैं, और परमेश्वर के गुण कुछ और हैं । उन गुणों को तुम इन गुणों में लाकर क्यों मिलाती हो ?

उस परब्रह्म के गुण और रूप का रहस्य कोई न जान पाया—इसी से तो वेद और उपनिषद परब्रह्म को 'निर्गुण' कहते हैं ।

ब्रज०—वेदहु हरि के रूप स्वास मुख तें जो निसरै ।
कर्म क्रिया आसक्ति सबै पछिली सुधि बिसरै ॥
कर्म मध्य ढूंढ़ै सबै किनहि न पायौ देखि ।
कर्म-रहित ही पाइयै तातें प्रेम बिसेखि ॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥ २२ ॥

गोपियों ने उत्तर दिया—

वेद भी तो उन्हीं भगवान के स्वरूप मात्र (अंश मात्र) हैं क्योंकि वे उनके मुख से श्वास से प्रकट हुए है । (वेदों की उत्पत्ति ईश्वरीय कही जाती है) —अतः उनका प्रमाण मान्य नहीं है—कर्म-क्रिया में आसक्ति (लगाव) होने से जीव (आत्मा) को ब्रह्म (परमात्मा) की सब पिछली सुध भूल जाती है ।

कर्म के जाल में उस (ब्रह्म) की खोजने पर किसी ने उसे नहीं देख पाया । वह तो कर्म रहित होने से ही मिलता है । अत. (ज्ञान और कर्म से) प्रेम ही उत्कृष्ट है ।

उद्धव—प्रेमहि कै कोउ वस्तु रूप देखत लौ लागैं ।
वस्तु दृष्टि बिन कहो कहा प्रेमी अनुरागे ॥

तरनि चन्द्र के रूप को नहिं पायो गुन जान।
तौ उनको कहा जानियै गुनातीत भगवान॥
सुनौ ब्रजनागरी॥ २३॥

उद्धव ने तर्क किया—हे ब्रजबालाओ सुनो—

यदि किसी से प्रेम हो तो उस पदार्थ के रूप को देखते ही उससे लगन हो जाती है, परन्तु वास्तविक (सच्ची) दृष्टि के बिना प्रेमी किस से और कैसे प्रेम कर सकता है ? उद्धव का आशय यह है कि तुमने कृष्ण को सच्ची दृष्टि से देखा ही नहीं; फिर तुम उनसे प्रेम क्या करोगी ?

सूर्य और चन्द्रमा के रूप और गुण को जब कोई नहीं जान पाया तो फिर उन भगवान को कोई कैसे जान सकेगा जो गुणों से अतीत अर्थात् परे हैं।

ब्रज०—तरनि अकास प्रकास जाहि में रह्यौ दुराई।
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यौ जाई॥
जिनके वे आखें नहीं, देखें क्यों वह रूप।
क्यों उपजै विश्वास जे परे कर्म के कूप॥
सखा ! सुनि श्याम के॥ २४॥

तब ब्रजबालाओं ने उत्तर दिया—हे श्याम के सखा, सुनिये। सूर्य आकाश में अपने तेज के प्रकाश में छिपा हुआ रहता है अथवा सूर्य, आकाश और प्रकाश तीनों उस ब्रह्म के तेजोमय रूप में छिपे हुए हैं—वह ब्रह्म ऐसा परमतेजमय है ! दिव्यदृष्टि के बिना वह किसी को दिखाई नहीं देता।

जिनके ऐसी आँखें नहीं हैं वे उस रूप को कैसे देख सकते हैं ? ऐसे लोग यदि देख भी लें तो उन्हें उस पर विश्वास न होगा क्योंकि वे कर्म के अन्ध-कूप में पड़े हुए प्राणी हैं।

उद्धव—जब करियै नित कर्म भक्ति हू या मे आई।
कर्म रूप तें कहौ कोन पै छूट्यौ जाई॥
क्रम क्रम कर्मै के किये कर्म नास ह्वै जाय।
तब आत्मा निहकर्म ह्वै निर्गुन ब्रह्म समाय॥
सुनौ ब्रज नागरी ! ॥ २५॥

इस पर उद्धव बोले—हे गोपियो, सुनो ! कर्म नित्य वस्तु है—और

भक्ति भी एक कर्म ही है तो भक्ति का भी उसमें समावेश अपने आप हो जाता है। कर्म ऐसा बन्धन है कि उससे कोई छूट ही नहीं सकता।

कर्म करते-करते धीरे-धीरे कर्म (के दोष) का अपने आप नाश हो जाता है और कर्म-दोष मिट जाने पर ही आत्मा निष्कर्म (कर्मफल की इच्छा रहित) होकर कर्म-रहित निर्गुण-रूप ब्रह्म में लीन हो जाती है। (इस प्रकार यहां कर्म-योग का प्रतिपादन है।

ब्रज.—जौ हरि के नहिं कर्म कर्म बंधन क्यों आयौ।
तौ निर्गुन होइ वस्तु मात्र परमान बनायौ॥.
जो उनको परमान है तो प्रभुता कछु नाहिं।
निर्गुन भए अतीत के सगुन सकल जग माहिं॥
सखा! सुनि श्याम के॥ २६॥

इस पर गोपियों ने तर्क किया— हे मित्र, सुनिए; यदि भगवान के कोई कर्म नहीं थे, तो वे कर्म के बन्धन में पड़े ही कैसे ?

यदि वह निर्गुण है तो उसने कैसे वस्तुओं (पदार्थों), तन्मात्राओं और परमाणुओं को बनाया ? (अथवा उसे वस्तु, मात्रा और अणु-परमाणु में कैसे बताया गया ?)

यदि ब्रह्म का परिमाण (आकार) है, तब तो उनकी प्रभुता (विभुता) अर्थात् सर्वव्यापकता नहीं रह जाती।

निर्गुण होते हुए उससे सगुण विश्व कैसे होगा अथवा वह निर्गुण होते हुए सगुण विश्व में व्याप्त कैसे होगा ?

उद्धव—जे गुन आवैं दृष्टि माहिं नस्वर हैं सारे।
इन सबहिन ते बासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इन्द्री दृष्टि बिकार तें रहित अधोछज जोति।
सुद्ध सरूपी ग्यान की प्रापति तिनको होति॥
सुनौ ब्रज नागरी!॥ २७॥

तब उद्धव ने गोपियों का उत्तर दिया—हे ब्रजबालाओ, सुनो ! हमारी दृष्टि में जो गुणमय (पदार्थ) आते हैं, वे सब तो नश्वर हैं अतः वे नष्ट हो जायेंगे। वासुदेव कृष्ण या अच्युत परब्रह्म इन सब दृश्यमान रूपों से भिन्न

(पृथक) ऊपर हैं। वे अनश्वर हैं।

कृष्ण (विष्णु) की ज्योति देखने की इन्द्रिय के दोष से रहित है। वह इस विकार-युक्त दृष्टि से नहीं दिखाई देती। दृष्टि इन्द्रिय में विकार होने से ही वह सगुण-साकार दिखाई देती है। (वरन्) जिनको शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है, उन्हीं को उसकी प्राप्ति हो सकती है।

(यहाँ ज्ञान-योग का प्रतिपादन है)

व्रज०—नास्तिक हैं जो लोग कहा जानें निज रूपे।
प्रगट भानु कों छाँड़ि गहत परछाईं धूपे।।
हमरें तौ यह रूप बिन और न कछू सुहाय।
जो करतल आमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय ।।
सखा ! सुनि स्याम के ।। २८)

तब गोपियों ने उत्तर दिया—हे कृष्ण के सखा! सुनिए! जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करते वे उनके प्रेममय रूप को क्या जानें ? वे प्रत्यक्ष रूप से चमकने वाले सूर्य को छोड़कर उनकी परछाईं धूप-मात्रा को पकड़ते है ?

बस हमें तो प्रेममय इस रूप के अतिरिक्त और कुछ भाता ही नहीं हमें तो इसमें ब्रह्म का ही, हथेली में आंवले की भांति, सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण रूप से, दर्शन होता है।

अलं०—उदाहरण।

कृष्ण के प्रति उपालंभ

ऐसे मे नन्दलाल रूप नैननि के आगे।
आय गयौ छबि छाय बने बीरी अरु बागे ।।
ऊधौं सों मुख मोरिकैं कहत तिनहि सों बात।
प्रेम-अमृत मुख तें स्रवत अंबुज-नैन चुचात ।।
तरक रसरीति की ।। २६ ।।

बस इसी क्षण उनके आगे साक्षात् कृष्ण का रूप आ गया—उनकी आंखों में कृष्ण का स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया। उनकी वेशभूषा वही पीताम्बर से अलंकृत थी—और शोभा पा रही थी।

गोपियाँ भूल गईं कि वे उद्धव से तर्क-वितर्क कर रही थीं— वे उन्हें भूलकर, उनसे मुँह मोड़कर कृष्ण से ही बात करने लगीं।

गोपियों के मुख से प्रेम की अमृत-भरी वाणी के विन्दु (शब्द) झरने लगे और कमल जैसे सुन्दर नेत्रों से अश्रु गिरने लगे। यही प्रेम की रीति है।

अलं०—रूपक और उपमा।

अहो! नाथ! रमानाथ और जदुनाथ गुसाईं।
नदनन्दन बिडरात फिरत तुम बिनु बन गाईं॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै गौ ग्वालन सुख लेहु।
दुख-जल-निधि हम बूड़हीं कर-अवलम्बन देहु॥
निठुर ह्वै कहा रहे ! ॥ ३० ॥

गोपियाँ उपालम्भ के स्वर में कृष्ण से कहने लगीं—हे स्वामी, हे लक्ष्मी के पति, हे यादवों के शिरोमणि कृष्ण ! तुम कहाँ हो ? आज तुम्हारे बिना यहां बन में गायें भटकती फिरती हैं।

अब फिर कृपा करके तुम उनकी सुधि क्यों नहीं लेते और क्यों नहीं सुख देते ? हम तुम्हारे विना दुख के गहरे सागर में डूब रही हैं, तुम अपने हाथ का सहारा हमें दो। इस प्रकार क्यों निठुर हो गये हो !

अलं०—रूपक।

कोउ कहें अहो दरस देत पुनि लेत दुराई।
यह छलविद्या कहो कौन पिय तुमहिं सिखाई॥
हम परबस आधीन हैं तातें बोलत दीन।
जल बिनु कहि कैसे जियें पराधीन जे मीन॥
बिचारो रावरे ! ॥ ३१ ॥

कोई गोपी कहती थी—ये बड़े छली हैं—कि दर्शन देते हैं, फिर छिप जाते हैं। हे प्रियतम, तुम्हें यह छल-विद्या किसने सिखाई है ?

हम इस समय विवश हैं और दुर्भाग्य के अधीन हैं—इसलिये कातर वचन कह रही हैं। जो पराधीन मछलियां जल में ही जीती हैं वे जल के बिना कैसे जी सकती हैं ? आप तनिक सोचिए तो।

(सूचना—उपर्युक्त पद कई प्रतियों में नहीं है।)

कोउ कहै प्रिय दरस देत तौ बेनु सुनावौ।
दुरि दुरि वन की ओट कहा हिय लोन लगावौ॥
हमकों तुम पिय एक हौ तुमको हमसी कोरि।
बहुताइत के रावरे प्रीति न डारो तोरि॥
एक ही बार यौं॥ ३२॥

(परन्तु) कोई गोपी अनुनय-विनय कर रही थी कि हे प्रियतम, फिर से दर्शन देकर एकबार अपनी बाँसुरी बजाओ। इस वन की आड़ में छिप छिपकर क्यों घायल हृदय में नमक लगा रहे हो ?

हे प्रियतम ! तुम तो हम करोड़ों के लिए एक हो, हम जैसी तुम्हारे लिए करोड़ों हैं। इस प्रकार बहुत पाकर के प्रीति को यों एक ही बार में तोड़ न डालो !

कोउ कहै अहो स्याम कहा इतराय गए हौ।
मथुरा को अधिकार पाय महराज भए हौ॥
ऐसे कछु प्रभुता अहो जानत कोऊ नाहिं।
अबला बुधि सुनि डरि गई बली डरैं जग माहिं॥
पराक्रम जानिकै॥ ३३॥

कोई गोपी उग्र स्वर में कहती थी—हे कृष्ण, क्यों तुम अब घमण्ड में इतरा गये हो क्योंकि तुम मथुरा का राज्य-अधिकार पाकर महाराजा हो गये हो न !

क्या यह प्रभुता ऐसी थी कि तुम्हें कोई नहीं जानता ? तुमसे तो बड़े-बड़े बलवान संसार में डरते हैं। हमारी तो अबला-बुद्धि थी हम क्यों न डरतीं ?

(अथवा)

तुम हम अबला जनों के (वियोग में) मर जाने की बात से डर गये—वैसे तो तुम्हारा पराक्रम जानकर संसार में बलवान भी डरते हैं।

कोउ कहै अहो स्याम चहत मारन जो ऐसे।
गोवरधन कर धारि करी रच्छा तुम कैसे॥

ब्याल, अनल, विष ब्याल तें राखि लई सब ठौर।
बिरह-अनल अब दाहिहौं हसि नन्दकिशोर ॥
चोरि चित लै गये ॥ ३४ ॥

कोई गोपी कहने लगी—हे श्याम यदि इस प्रकार ही हमें मारना चाहते हो तो तुमने जल-प्रलय के समय गोवर्द्धन पर्वत हाथ में उठा कर हमारी सबकी रक्षा क्यों की थी ?

तुमने हम सबको सर्प, आग विष आदि विपत्तियों से बचाया था। तुम पहले तो हंस-हँस कर हमारा चित्त चुरा ले गये, अब क्या हमें विरह की अग्नि में जलाकर भस्म करोगे।

अलं०—रूपक

कोउ कहै ये निठुर इन्हें पातक नाहिं ब्यापै।
पाप पुन्य के करनहार ये ही हैं आपै ॥
इनके निरदै रूप मैं नाहिन कोऊ चित्र।
पय प्यावत प्रानन हरे पुतना बाल चरित्र ॥
मित्र ये कौन के ! ॥ ३५ ॥

कोई गोपी कहने लगी—अरे, ये कृष्ण बड़े निठुर हैं। इन्हें पाप नहीं लगता ये स्वयं ही तो पाप-पुण्य बनाने वाले ठहरे।

इनका स्वरूप बड़ा निर्दय है—इन्हें कुछ भी विचित्र नहीं है। इनका तो बाल-चरित्र है कि इन्होंने दूध पिलाती हुई पूतना के प्राण हर लिये थे। ये भला किसके मित्र होंगे ?

कोउ कहै री आज नाहिं, आगे चलि आई।
रामचन्द्र के रूप माहि- कीनी निठुराई ॥
जग्य करावन जात हे बिस्वामित्र समीप।
मग में मारी ताड़का रघुवंश-कुलदीप ॥
बाल ही रीति यह ॥ ३६ ॥

कोई गोपी कहने लगी—अरी यह इनकी आदत आज की नहीं, पहिले की (पुरानी) ही है। इन्होंने रामचन्द्र के रूप में भी निष्ठुरता दी है। जब यह गुरु विश्वामित्र के पास यज्ञ कराने के लिए जा रहे थे—तब इन रघुवंश के

दीपक ने राह में बेचारी ताड़का स्त्री को मार डाला था । तो इनकी यह बचपन की यह रीति है ।

कोउ कहै ये परम धर्म इस्त्रीजित पूरे ।
लछ लाघव संधान धरें आयुध के सूरे ।।
सीताजू के कहे तें सूपनषा पै कोपि ।
छेदे अङ्ग विरूप कर लोगनि लज्जा लोपि ।।
कहा ताकी कथा ।। ३७ ।।

कोई गोपी कहनी लगी—अरे ये तो बड़े धर्मात्मा और स्त्रियों को जीतने वाले हैं ! लाखों का इन्होंने सन्धान किया है ! ये अस्त्र-शस्त्र चलाने में बड़े शूर हैं ।

इन्होंने सीता जी के कहने से शूर्पणखा पर क्रोध करके लोक-लज्जा का भी ध्यान न रखते हुए उसके नाक-कान काट दिये थे, उसे विकृत कर दिया था । इनकी बात ही क्या ?

अलं०—व्याजस्तुति और वक्रोक्ति ।

कोउ कहै री सुनौ और इनके गुन आली ।
बलिराजा पै गये भूमि मांगन बनमाली ।।
मांगत बामन रूप धरि, परबत भयो अकाय ।
सत्त धर्म सब छांड़ि कै धर्‌यो पीठ पै पाय ।।
लोभ की नाव ये ।। ३८।।

कोई गोपी कहने लगी—आली, इनके और भी गुण (व्यंग से अर्थ—अवगुण) सुनो । ये ही राजा बलि के पास भूमि का दान माँगने गये थे । वहाँ उन्होंने वामन (बौने) का रूप धर कर माँगा था –

परन्तु (ऐसा छल किया कि) फिर महाविशाल पर्वत के समान बन गये । इन्होंने सत्य-धर्म छोड़कर उसकी पीठ पर पांव रक्खे । ये बड़े लोभ की नाव हैं ।

कोउ कहै इन परसुराम ह्वै माता मारी ।
फरसा कन्धा धारि भूमि छत्रिन संघारी ।।

सोनित कुण्ड भरायकै पोषे अपने पित्र।
तिनकै निरदय रूप में नाहिन कोऊ चित्र।।
बिलग कहा मानिये ।।३९।।

कोई गोपी कहने लगी– इन्होंने परशुराम होकर अपनी माता तक को मार डाला था फरसे को कन्धे पर लेकर इन्होंने पृथ्वी भर के क्षत्रियों को मारा था। उनके लहू से कुण्ड भरवाकर इन्होंने अपने पितरों का तर्पण किया था इनके निर्दय रूप में कोई विचित्र बात नहीं। इसका बुरा क्यों मानती हो ?

कोउ कहै अहो कहा हिरनकस्यप तें बिगर्यौ।
परम ढीठ प्रह्लाद पिता के सनमुख झगर्यौ।।
सुत अपने को देत हो सिच्छा दण्ड बँधाय।
इन बपु धरि नरसिंह को नखन बिदार्ययौ जाय।।
बिना अपराध ही ।।४०।।

कोई गोपी कहने लगी—(इनका एक पूर्व चरित्र और सुनो—) हिरण्यकश्यप ने इनका क्या बिगाड़ा था ? जब अत्यन्त ढीठ बालक प्रह्लाद अपने पिता (हिरण्यकश्यप) से झगड़ा था, तो वह खम्भे से बाँध कर अपने पुत्र को शिक्षा ही तो दे रहा था। तब इन (महाराज) ने शरीर धारण करके (प्रकट होकर) अपने नखों से उसको चीर कर बिना अपराध ही उसे मार डाला था !

कोउ कहे सखि कहा दोष सिसुपाल नरेसैं।
ब्याह करन को गयौ नृपति भीषम के देसैं।।
दलबल जोरि बरात कों ठाढ़ौ हो छबि वाढ़ि।।
इन छल करि दुलही हरी छुधित ग्रास मुख काढ़ि।।
आपुने स्वारथी ।।४१।।

कोई गोपी कहने लगी—भला राजा शिशुपाल का क्या दोष था ? वह तो राजा भीष्म के देश में विवाह करने को गया था; वह बरात के दलबल को इकट्ठा करके बड़ा सजधज कर खड़ा था; तब इन्होंने छल करके उसकी वधू रुक्मिणी का हरण कर लिया—और इस प्रकार उसके मुँह से कौर छीन लिया ! वास्तव में ये बड़े ही स्वार्थी हैं।

अलं०—लोकोक्ति ।

इहि विधि होइ आवेस परम प्रेमहि अनुरागीं ।
और रूप पिय चरित तहाँ सब देषन लागीं ॥
रोम रोम रहे व्यापि कैं जिनके मोरन आय ।
तिनके भूत भविष्य कों जानत कौन दुराय ॥
रँगीली प्रेम की ॥४२॥

इस प्रकार प्रेम के आवेश में आकर गोपिकायें परम प्रेम में अनुरक्त हो गईं और प्रिय (कृष्ण) के—विष्णु के—अवतारों के अन्य रूपों के चरित्रों का दर्शन करने लगीं ।

जिनके रोम-रोम में मोहन (कृष्ण) रमे हुए हों उनके भूत-भविष्य के ज्ञान को कौन मिटा सकता हैं ? वे प्रेम में पूर्णतया रंगी हुई थी ।

देखत इनकौ प्रेम नेम ऊधौ को भाज्यौ ।
तिमिर भाव आबेस बहुत अपने जिय लाज्यौ ॥
मन मैं कहि रज पाय की लै माथै निज धारि ।
परम कृतारथ ह्वै रहौं त्रिभुवन-आनन्द वारि ॥
वंदना जोग ए ॥४३॥

गोपिकाओं की ऐसी प्रेम-दशा देखकर, उद्धव के योग का सब नियम-धर्म विलीन हो गया । वे अपने अज्ञान के आवेश पर मन में अत्यन्त लज्जित हुए ।

उद्धव मन में कहने लगे (सोंचने लगे)—मैं इन गोपियों के पावों की धूल लेकर, उसे अपने मस्तक पर चढ़ाकर, परम कृतकृत्य हो तीनों लोकों के आनन्द को इन पर निछावर करूं ! वे गोपिकायें तो अपने अनन्य प्रेम के कारण वन्दना करने योग्य हैं ।

कबहुँ कहे गुन गाय स्याम के इन्हें रिझाऊँ ।
प्रेम-भक्ति तो भले स्यामसुन्दर की पाऊँ ॥
जिह किहि विधि ये रीझहीं सो हौं करौं उपाय ।
जातें मो मन सुद्ध होइ दुविधा ग्यान मिटाय ॥
पाय रस प्रेम को ॥४४॥

उद्धव अब सोचते थे—यदि मैं श्याम के गुण गा-गा कर इन (गोपियों) को रिझाया करूं तो इस प्रकार श्यामसुन्दर की प्रेममयी भक्ति तो पा सकूं !

मैं अब वह यत्न करूंगा जिससे किसी न किसी प्रकार ये रीझ सकें—जिसके फलस्वरूप प्रेम का आनन्द पाकर मेरा मन विकार-रहित और शुद्ध हो तथा मन का संशय या दुविधा-भाव मिट जाये। (इसमें साकार-निराकार के अन्तर की शंका से आशय है।)

भ्रमर-आगमन

ताही छिन एक भवर कहूँ तें उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज-बनिता के पुंज माँझ गुंजत छबि छायौ॥
बैठ्यौ चाहै पाय पर अरुन कमल-दल जानि।
सो मन ऊधौ को मनौं प्रथमहि प्रगट्यो आनि॥
मधुप कौ भेष धरि॥ ४५॥

इसी क्षण, कहीं से एक भौंरा उड़कर वहाँ आ गया। ब्रजबालाओं के झुन्ड के बीच में गूंजता हुआ वह बड़ा सुन्दर प्रतीत हुआ।

वह राधा के चरण पर, उसे लाल-कमल की पंखड़ी जानकर, बैठना चाहता था--मानों वह उद्धव का मन ही था जो इस प्रकार पहले ही भौंरे के रूप में प्रकट हो रहा था।

अलं०—उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान्।

भ्रमर के प्रति उपालंभ

ताहि भँवर सों कहत सबै प्रति उत्तर बातें।
तर्क वितर्कन जुक्त प्रेम रस रूपी घातें॥
जनि परसौं मम पांय हो गयौ अनद-रस चोर।
तुमहीं सों कपटी हुतो नागर नन्दकिसोर॥
इहाँ तें दूरि हो॥ ४६॥

तब गोपिकायें उसी भौंरे से प्रत्युत्तर में बातें कहने लगीं। वे बातें तर्क-वितर्क से पूर्ण थीं और उनमें प्रेम-रस की चालें भी थीं।

गोपी भौंरे से कहने लगीं—अरे तू मेरे पाँव न छू। आनन्द-रस को

चुराने वाला है। कृष्ण भी तुम्हीं-जैसे कपटी थे। तू यहाँ से दूर हो !

कोउ कहै रे मधुप तुमैं लाजौ नहिं आवत।
स्वामी तुम्हरौ स्याम कूबरी दास कहावत॥
इहाँ ऊँचि पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयौ दासी-जूभन खाय॥
मरत कहा बोल कौं॥ ४७॥

तब कोई गोपी व्यंग्य से कहने लगी—अरे भंवरे, तुझे लज्जा भी नहीं आती ! कृष्ण तुम्हारे स्वामी--कुबड़ी (कुब्जा) के दास कहलाते हैं। यहाँ वे गोपीनाथ कहलाते थे—कुछ ऊंची ही पदवी उनकी थी। अब दासी की जूठन खाकर तो उनका यदुवंश पवित्र ही हो गया ! इस पर क्यों बोलने को मरता है।

अलं०—परिकरांकुर, वक्रोक्ति।

कोउ कहै अहो मधुप कौन कहे तुमें मधुकारी।
लिए फिरत बिष जोग गांठि प्रेमी-बधकारी॥
रुधिर पान कियौ बहुत कें अधर अरुन रंगरात।
अब ब्रज में आए कहा करन कौन कों घात॥
जात किन पातकी !॥ ४८॥

कोई गोपी कहती थी—अरे भौंरे, तुम्हें कौन मधु-संचय करने वाला कहेगा ? तुम तो प्रेमी को मारने वाली 'योग' रूपी विष की गांठ लिये फिरते हो। तुमने न जाने कितनों (फूलों) का लहू पिया है तभी तो तुम्हारे ओठ लाल रंग से रंगे हैं। अब तुम इस गोकुल में किसकी घात करने आये हो ? हे पापी, यहाँ से जाते क्यों नहीं ?

कोउ कहै रे मधुप भेष उनको क्यों धार्यौ॥
स्याम पीत गुंजार बेनु, किंकिनि झनकार्यौ॥
बापुर गोरस चोरिकैं फिरि आयो या देस।
इनको जिनि मानौ कोऊ कपटी इनको भेस॥
चोरि जिनि जाय कछु॥ ४९॥

कोई गोपी कहने लगी—देखो इस भौंरे ने उन्हीं (कृष्ण) का वेश भी

धारण किया है। वही काला-पीला शरीर, वही बाँसुरी की गुंजार और किंकिणी की झनकार-- उनकी सब बातें मिलती हैं।

उस (मथुरा) नगर में गोरस चुराकर (श्लेष से—इन्द्रियों का आनन्द लूट कर) अब इस हमारे ग्राम में आया है। कोई इनका आदर न करो— इसका कपटी भेष है। यहाँ से भी यह कुछ चुरा न ले जाय।

अलं०—अप्रस्तुतप्रशंसा।

कोउ कहै रे मधुप कहा मोहन गुन गावै।
हृदय कपट सों परम प्रेम नाहिन छबि पावै॥
जानति हौं हरि भाँति कै सरबसु लियौ चुराय।
ऐसी बहु ब्रजवासिनी को जु तुमें पतियाय॥
लहे हम जानिकै॥ ५० ॥

कोई गोपी कहती थी—अरे मधुप (उद्धव की ओर व्यंग्य है), तू क्या मोहन के गुण गाता है! उच्च कोटि का प्रेम हृदय के कपट से सुहाता नहीं। हम जानती हैं, कृष्ण ने किस-किस प्रकार हमारा सब कुछ चुरा (छीन) लिया है। अब कौन इस व्रज में रहने वाली (गोपी) होगी जो तुम्हारा भरोसा करे? तुमको भली भाँति जान लिया है।

अलं०—अप्रस्तुतप्रशंसा।

कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस की जाने।
बहुत कुसुम पै बैठि सबन आपुन रस माने॥
आपुन सों हमको कियौ चाहतु है मतिमन्द।
दुविधा रस उपजाय कै दूषित प्रेम अनन्द॥
कपट के छंद सों॥ ५१ ॥

कोई गोपी कहने लगी—अरे भौंरे, तू रस (प्रेम) की बात ही क्या जाने? तेरा तो स्वभाव यह है कि तू भांति-भांति के फूलों पर बैठकर सब से आनन्द लेता है और पाता है।

अब मूर्ख, तू हमको भी अपने जैसा ही (विलासी) करना चाहता है। तू कपट की चाल चल कर द्विविधा भाव (अनन्य भाव का विपरीत) उत्पन्न करके हमारे प्रेम के आनन्द को दोषपूर्ण बनाना चाहता है। (द्विविधा भाव से

निर्गुण-सगुण के संशय का आशय है।)

अलं०—अप्रस्तुतप्रशंसा।

कोउ कहै रे मधुप प्रेमपद को सुख देख्यो।
अबलों थाहि विदेस माहिं कोउ नाहिं विसेष्यो॥
द्वै सिय आनन पर जमे कारौ पीरौ गात।
खल अमृत सब पानही अमृत देखि डरात॥
बादि यह रस कथा॥ ५२॥

कोई गोपी कहने लगी—यह प्रेम (का सुख) तो इस (छः पाँव वाले पशु) भौंरे ने ही देखा-जाना है। अब तक इस ब्रजभूमि में किसी ने इसे नहीं समझा था।

दो सींग इसके मुख पर जमे हैं (भौंरे के मुँह पर आगे दो लम्बे बाल होते हैं) और काला-पीला इसका शरीर है। यह मूर्ख है, खल को तो अमृत के समान मानता है और अमृत देखकर डरता है। व्यर्थ है इसकी यह रसिकता। (यहां योग और प्रेम की ओर संकेत है)

अलं०—श्लेष से पुष्ट अप्रस्तुतप्रशंसा।

कोउ कहै अहो मधुरु बहुत निरगुन इन जान्यो।
तरक वितरकन जुक्ति बहुत उनही में मान्यो॥
ये इतनी नहिं जानिही वस्तु बिना गुन नाहिं।
निरगुन भए अतीत के सगुन सकल जग माहिं॥
बूझ जो ग्यान हो॥ ५३॥

कोई गोपी कहने लगी—अरे इस भौंरे ने तो निर्गुण (गुणहीन) को बहुत जाना है। तर्क-वितर्क और युक्ति सब कुछ उसमें इसने लगाई है।

परन्तु यह इतना नहीं जानता कि—कोई वस्तु बिना गुण के होती ही नहीं। जिसका अस्तित्व है उसमें गुण अवश्य होगा। कोई वस्तु निर्गुण नहीं; यदि उसे निर्गुण मान भी लिया जाय तो वह निराकार होने के कारण केवल अतीत की, भूत की ही वस्तु होगी, सगुण तो इसके विपरीत समस्त विश्व में प्रत्यक्ष दिखाई देता है अथवा यदि ब्रह्म निर्गुण है तो वह सगुण जगत में कैसे व्याप्त है? यदि इसमें ज्ञान हो तब तो इसे समझे।

कोस कहै रे मधुप होहिं तुम से जों संगी।
क्यों न होइ तन स्याम सकल बातन चतुरंगी।।
गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि।
मनों त्रिभंगी आपु हैं करो त्रिभंगी नारि।।
रूप गुन सील की ।।५४।।

कोई गोपी कहने लगी—अरे भौंरे, जब संसार में तुम्हारे जैसे संगी साथी हों तो श्याम शरीर वाले कृष्ण बातें बनाने में चालाक-चतुर क्यों न हो जाएँ।

उन कृष्ण में यहाँ गोकुल में अपनी कोई जोड़ी नहीं पाई थी (पर मथुरा में अब मिल गई है) वे स्वयं तो, कामदेव की भाँति सुन्दर त्रिभंगी छवि वाले हैं ही, फिर स्त्री भी कैसी सुन्दरी तीन अङ्ग भङ्गवाली कुबड़ी (कुब्जा दासी) पाई है। वह तो सौन्दर्य, गुण और चरित्र तीनों में अद्वितीय ही है (यहाँ भी तीन बातें गिनाई गई हैं) जैसे कि गोकुल मे कहीं नहीं होंगी।

अलं०—यमक, सम।

कोउ कहै रे मनुर स्याम जोगी तुम चेला।
कुबुजा तीरथ जाइ कियो इन्द्रिय को मेला।।
मधुबन सुधिहिं बिसारिकै आये गोकुल माहिं।
इत सब प्रेमी बसत हैं तुमरो गाहक नाहिं।।
पधारो रावरे ।।५५।।

कोई गोपी कहने लगी—अरे भौंरे, कृष्ण योगी हैं तुम्हारे गुरु और तुम चेले हो और तुमने कुब्जा को तीर्थ बनाया है—अर्थात् 'तारनेवाला' (तारने से तात्पर्य व्यंग्य से डुबाने का है) वहीं जाकर तुम गुरु-शिष्यों ने इन्द्रियों का मेला लगाया है। [योगी अपनी साधना में अपनी इन्द्रियों को आत्मवश करके केन्द्रित कर लेते हैं; परन्तु व्यंग्य से गोपियों को आशा यह है कि तुम लोगों ने इन्द्रिय-भोग किया है।]

अब तुम मथुरा को भूलकर गोकुल में आये हो। यहाँ तो सब प्रेमी ही

बसते हैं, तुम्हारा ग्राहक यहाँ कोई नहीं है। इसलिये आप यहाँ से पधारिये।

अलं०—श्लेष से पुष्ट अप्रस्तुतप्रशंसा।

कोउ कहै री सखी साधु मधुवन के ऐसे।
और तहाँ के सिद्ध लोग ह्वै हैं धौं कैसे॥
औगुन ही गहि लेत हैं अरु गुन डारैं मेटि।
मोहन निगु'न क्यों न हों उन साधुन कौं भेंटि॥
गाँठि कौ खोइकै॥ ५६॥

कोई गोपी कहने लगी—हे सखी, जब मथुरा नगरी के साधु-सन्यासी ऐसे हैं (जैसे उद्धव), तो वहाँ के सिद्ध लोग कैसे होते होंगे?

ये लोग अवगुण को तो गुण की भांति ग्रहण करते हैं, परन्तु गुण को मटियामेट कर देते हैं। फिर निगु'ण (गुणहीन) मोहन ऐसे साधुओं को भेंट क्यों न चढ़ जाये—अपनी गांठ की पूंजी खोकर।

अलं०—लोकोक्ति।

कोउ कहै वह मधुप ग्यान उलटौ लै आयौ।
मुक्ति परे जे रसिक तिन्हैं फिरि कर्म लतायौ।
बेद उपनिषद सार जो मोहन गुन गहि लेत।
तिनको आतम सुद्ध करि फिरि फिरि संथा देत॥
जोग चटसार में॥ ५७॥

कोई गोपी कहने लगी—यह भौंरा तो उलटा ज्ञान ले आया है। जो रस-सिद्ध, रसिक मुक्ति में पड़े हुए थे अर्थात् मुक्ति पाचुके थे, उन्हें फिर इसने कर्म का मार्ग बताया है।

जो मोहन के गुणों को, जो कि वेद और उपनिषद के सार-तत्व हैं, पा लेते हैं उनकी भी आत्मा को शुद्ध करके वह उन्हें बार-बार योग की पाठशाला में बार-बार निगु'ण ज्ञान का नित्य पाठ पढ़ाता है।

अलं०—रूपक।

कोउ कहै सखि बिस्व माँहि जेतिक हैं कारे।
कपट कोटि के परम कुटिल मानुस बिषवारे॥

एक स्याम तन परसि कै जरत आजु लौं अंग।
ता पाछे फिरि मधुप यह लायो जोग भुअंग॥
कहा इनको दया॥ ५८॥

कोई गोपी कहने लगी—विश्व में जितने भी काले (रूप-रंग के) हैं वे सब के सब कपटी, कुटिल, कठोर और बड़े काले (पापी) मनवाले होते हैं।

एक श्याम (काले) कृष्ण का शरीर छूने से तो फल वह मिला कि आज तक हमारा अंग-अंग विरह की आग में जल रहा है, तिस पर यह दूसरा काला (उद्धव) योग रूपी साँप लेकर आ गया। इन (कालों) को कुछ दया नहीं।

अलं०—रूपक, परिकर।

कोउ कहै रे मधुप कहैं अनुरागी तुमकौं।
कौने गुन धौं जानि परम अचरज है हमकौं॥
कारौ तन अति पातकी मुख पियरौ जग निंद।
गुन अवगुन सब आपुनें आपुहि आनि अलिंद॥
देख लै आरसी॥ ५९॥

कोई गोपी कहती थी—हे भौंरे, न जाने तुम में कौन सा गुण देखकर लोग तुम्हें अनुरागी (प्रेमी) कहते है। हमको इसी पर अचरज है।

काला तुम्हारा शरीर है बड़ा पापी, और मुख पीला है। संसार भर में तुम्हारी निन्दा है। भौंरे, अपने गुण-अवगुण तुम स्वयं समझते हो। तनिक दर्पण लेकर तो अपना मुँह देख लो।

इहि विधि सुमिरि गोविंद कहत प्रति गोपी।
भृंग संग्या करि कहन सफल कुल लज्या लोपी॥
ता पाछें एक बारही रोइँ सकल ब्रजनारि।
हा! करुनामय नाथ हो! केसो! कृष्ण मुरारि।।
फाटि हिय दृग चल्यो॥ ६०॥

इस प्रकार गोविन्द के गुणों का स्मरण करती हुई गोपियाँ उद्धव को भ्रमर नाम से पुकारती हुई बहुत सी बातें करती हैं। प्रेम के आवेश में उन्होंने कुल की मर्यादा भी छोड़ दी।

इसके अनन्तर सब गोपियाँ एकाएक रो पड़ीं और हाय कृपालु-दयालु प्रियतम, हे केशव, हे कृष्ण, हे मुरारी, कहकर विलाप करने लगीं। उनका हृदय फटकर आंखों से (आँसू बनकर) बह चला।

उमग्यो ज्यों तह सलिल सिंधु ले तन की धारन।
भीजत अंबुज नीर कंचुकी भूषन हारन॥
ताहो प्रेम प्रवाह में ऊधौ चले बहाय।
भले ग्यान की मेंड़ हौं ब्रज में प्रगट्यो आय॥
कूल के तृन भये॥ ६१॥

रोने से उनकी आँखो से जो आंसुओं की धारा उमड़ पड़ी उससे कमल जैसे वक्षस्थल, कंचुकी और हार इत्यादि आभूषण जल से भींग गये।

उनके प्रेम के बहाव में उद्धव भी बह चले! वे द्रवित होकर बोले—मैंने ज्ञान की यह मेंड़ ब्रज में आकर अच्छी बनाई कि मैं तो किनारे का तिनका हो गया।

अलं०—रूपक तथा रूपकातिशियोक्ति।

उद्धव की प्रेम दशा

प्रेम विवस्था देखि सुद्ध यों भक्ति प्रकासी।
दुविधा ग्यान गलानि मंदता सगरी नासी॥
कहत भयो निस्चै यहै हरि रस की निजपात्र।
हौं तो कृतकृत ह्वै गयो इनके दरसन मात्र॥
मेटि मल ग्यान को॥ ६२॥

इस प्रकार शुद्ध भक्ति को प्रकाशित करने वाले प्रेम की परिपाटी देखकर उद्धव के मन का संशय, ग्लानि और मूर्खता सब नष्ट हो गई।

वे कहने लगे—वास्तव में ये ही भगवान् के प्रेम के सच्चे अधिकारी हैं। मैं तो इनके दर्शन-मात्र से कृतार्थ हो गया: मेरा ज्ञान रूपी सब मैलापन धुल गया है।

पुनि पुनि कह हरि कहन बात एकांत पठायो।
मैं इनको कछु मरम जानि एकौ नहि पायो॥

हौं कह निज मरजाद की ग्यान रु कर्म निरूपि।
ये सब प्रेमासक्त होय रहीं लाज कुल लोपि॥
धन्य ये गोपिका॥ ६३॥

मन में उद्धव बार बार कहते थे कि कृष्ण ने इन गोपियों से एकांत में अपनी बात कहने को मुझे भेजा था; मैं इन का कुछ भी मर्म नहीं जान पाया—

मैं तो अपनी मर्यादा के द्वारा ज्ञान-कर्म की स्थापना करना चाहता था; परन्तु वे गोपिकाएं तो साक्षात् प्रेम-आसक्ति ही हैं और इन्होंने कुल-लज्जा तक का लोप कर दिया है। ये गोपिकायें वास्तव में धन्य हैं!

जे ऐसी मरजद मेटि मोहन को ध्यावें।
काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावें॥
ज्ञान जोग सब कर्म ते प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच॥
विषमता बुद्धि की॥ ६४॥

जो ऐसी संकीर्ण कुल-मर्यादा को मिटाकर कृष्ण का ध्यान करती हैं क्यों न वे परम आनन्द रूप प्रिय का प्रेम प्राप्त करें?

वास्तव में, मैंने जान लिया कि ज्ञान और योग के सब कर्मों से ऊपर प्रेम (अर्थात् भक्ति) ही सत्य है। मैं तो अपने ज्ञान को इसके आगे हीरे के आगे काँच जैसा मानता हूं। यह मेरी बुद्धि की विषमता थी।

अलं०—उपमा।

धन्य धन्य ये लोग भजत हरि कौं जे ऐसे।
और कोऊ बिनु रसहि प्रेम पावत है कैसे॥
मेरे वा लघु ग्यान कौं उर में मद होइ व्याधि।
अब जान्यौ ब्रज प्रेम की लहत न आधी आधि॥
वृथा स्रम करि मर्यौ॥ ६५॥

ये गोकुल वासी धन्य हैं ऐसे भगवान् (कृष्ण) की भक्ति करते हैं। और कोई बिना इस के प्रेम को कैसे पा सकता है?

मेरे हृदय में मेरे क्षुद्र ज्ञान का बड़ा घमंड हो गया था। परन्तु अब

मैंने जाना कि ब्रज (के निवासियों) के प्रेम का वह आधा भाग भी न था मैं व्यर्थ ही श्रम कर करके मरा।

पुनि कहि परसत पाय प्रथम हौं इनहि निबार्‌यौ।
भृंग संग्या करि कहत निंद सबहिन तें डार्‌यौ॥
अब ह्वै रहौ ब्रज-भूमि को मारग में की धूरि।
विचरत पग मो पर धरै सब सुख जीवनमूरि॥
मुनिनहू दुर्लभैं॥ ६६॥

फिर चरण छूकर कहते हैं—पहिले तो मैंने इन्हें दूर किया और इन्होंने भी मुझे भंवरा कह कर मेरी अत्यन्त निन्दा की।

पर अब मैं ब्रजभूमि के मार्ग में चरणों की धूल बनकर रहूंगा, जिससे इन भक्तों के विचरण करते समय उनके जीवन के सुखों के मूल, चरण, मुझ पर पड़ा करें—जो कि मुनियों के लिए भी दुर्लभ है।

कै ह्वै रहौं द्रुम गुल्म लता बेली वन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाहीं॥
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय।
मोहन होहिं प्रसन्न जो यहि वर माँगौं जाय॥
कृपा करि देंहि जो॥ ६७॥

मैं इस वृन्दावन का पेड़, लता, बेल कुंज, कैसे होऊं? यही अभिलाषा है; जिससे आते-जाते सहज हो मेरे ऊपर इनकी परछाईं पड़ा करे।

परन्तु यह भी तो मेरे वश में नहीं है जो कुछ उपाय कर सकूं, यदि भगवान् कृष्ण प्रसन्न हों तो जाकर मैं उनसे मांगू-कि यही वर कृपा करके मुझे प्रदान कीजिए।

पुनि कहै सब तें साधु संग उत्तम है भाई।
पारस परसै लोह तुरत कंचन ह्वै जाई॥
गोपी प्रेम प्रसाद सों हौं ही सीख्यो आय।
ऊधौ तें मधुकर भयो दुबिधा जोग मिटाय॥
पाय रस प्रेम कों॥ ६८॥

फिर उद्धव कहने लगे—अन्य उपायों से साधु जन का संग श्रेष्ठ होता है।

पारस को छूकर लोहा तुरन्त ही कंचन बन जाता है (उसी प्रकार मैं भी पवित्र हो जाऊंगा ।) गोपियों के प्रेम की कृपा से मैं यह सीख गया हूं ! अब मैं उद्धव से मधुकर हो गया हूं और मैंने योग की दुविधा (संशय) को मिटा दिया है ।

अलं :—उदाहरण, परिकुरांकुर ।

मथुरा-प्रत्यागमन

ऐसे मग अभिषला करत मथुरा फिरि आयौ ।
गद्गद् पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ ।।
गोपी-गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयौ भूलि ।
जीवन कों लै का करौं पायौ जीवन मूलि ।।
भक्ति कौ सार यह ।। ६९ ।।

उद्धव इस प्रकार मन में इच्छा करते-करते मथुरा लौट आये । उनका कण्ठ गद्गद् था, रोम-रोम पुलकित था (रोमांचित) था और अङ्गों में प्रेम का आवेश था ।

वहाँ उद्धव मोहन के गुण तो भूल गये और गोपियों के गुण गाने लगे । मैं जीवन को लेकर क्या करूं जब मैंने जीवन के मुल (प्रेमभक्ति) को पा लिया । यही तो भक्ति का सार तत्त्व है ।

ऐसे सोचत, स्याम जहाँ राजत, तह आयो ।
परिकरमा दन्डोत प्रेम सौं हेत जनायौ ।।
कछु निरदयता स्याम की करि क्रोधित दोउ नैन ।
कछु ब्रजवनिता-प्रेम की बोलत रस भरे बैन ।।
सुनौ नँद लाड़िले ।। ७० ।।

इस प्रकार सोचते-सोचते उद्धव वहाँ आ गये जहाँ कृष्ण सुशोभित थे । उन्होंने कृष्ण की परिक्रमा दण्वत प्रणाम आदि कर प्रेम-विनय को व्यक्त किया ।

फिर कुछ कृष्ण की निर्दयता से दोनों आंखों को क्रोधित करते और

कुछ गोपियों के प्रेम की भावना में आप्लावित वाणी में बोले—हे नन्द के लाड़ले ! सुनिए—

गोकुल का वृतांत

करुनामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूठी।
तब हीं लौं कँहो लाख, जबहि लों बाँधी मूठो ॥
मैं जान्यौं ब्रज जायकै निरदय तुम्हारौ रूप।
जे तुमको अवलंबई तिनकौं मेलौ कूप ॥
कौन यह धर्म है ! ॥ ७१ ॥

तुम्हारी दयाभरी कोरी रसिकता झूठी है, व्यर्थ है, मिथ्या, आडम्बर है। जिस प्रकार खेल में बालक बँधी मुट्ठी में सब-कुछ होने की कल्पना कर लेते हैं परन्तु प्राय: उसके खुलने पर उसमें कुछ नहीं पाते, उसी प्रकार तुम भी बँधी मुट्ठी की भाँति छूँछे हो-जब तक तुम्हें भीतर से न देखा जाय तभी तक तुम्हारा यह झूठा आडम्बर है। भेद खुलजाने पर तुम में कुछ नहीं मिलता। व्रज में जाकर मैंने जान लिया कि तुम्हारा स्वरूप बड़ा निर्दय है। जो तुम्हारा आधार या सहारा खोजें उनको तुम कुएँ में डालते हो। भला यह भी कोई धर्म है ?

पुनि पुनि कहै हे श्याम जाय वृन्दावन रहिए।
परम प्रेम को पुंज जहाँ गोपी संग लहिए ॥
और संग सब छाँड़िकै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यौ जात है अबहीं नेह सनेहु ॥
करोगे तौ कहा ? ॥ ७२ ॥

उद्धव फिर-फिर श्याम से कहने लगे—आप जाकर वृन्दावन ही रहिए और वहाँ परम प्रेम की मूर्ति गोपियों का साथ पाइये।

और सब लोगों का संग छोड़कर उन लोगों को सुख पहुँचाइए, नहीं तो आपका सब स्नेह सम्बन्ध टूट जायेगा-फिर क्या कीजिएगा ?

सुनत सखा के बैन नैन आये भरि दोऊ।
विवश प्रेम-आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ ॥

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोबर साँवरो ब्रजवनिता हीं पात ॥
उलहि अँग अँग तें ॥ ७३ ॥

मित्र उद्धव के वचन सुनते ही कृष्ण की दोनों आँखों भर आईं। गोपियों के प्रेम में वे इतने मग्न हो गये कि उन्हें कुछ भी सुध बुध न रही।

कृष्ण के श्यामल शरीर के रोम रोम में गोपिकायें मूर्तिमान हो गईं। उनका श्याम शरीर मानों कल्पवृक्ष हो गया—और ब्रजबालायें उसमें पत्तों की भाँति पल्लावित होगईं।

उद्धव को उपदेश

है सुचेत कहि भले सखा पठये सुधि लावन।
औगुन हमरे आनि तहाँ तै लगे दिखावन॥
उनमें मोमैं हे सखा, छिन भरि अन्तर नाहिं।
ज्यों देख्यौ मो माँहि वे, हौं हूँ उनहीं माहिं॥
तरंगिनि बारि ज्यों॥ ७४ ॥

तब कृष्ण सजग होकर उद्धव से बोले—मित्र, तुम अच्छे उनकी कुशल-क्षेम लाने के लिए भेजे गये। तुम तो वहां से आकर हमारे ही अवगुण दिखाने लगे!

(सच तो यह है कि) हे मित्र, उन ब्रजवासियों में और मुझ में रंच-मात्र भी भेद नहीं है। जिस भाँति मुझमें तुमने उनको देखा है उसी भाँति उनमें भी मैं रमा हुआ हूं—जैसे पानी में लहरें और तरङ्गों में पानी।

गोपी आप दिखाइ एक करिकै बनबारी।
ऊधौ के भरे नैन डारि व्यामोहक जारी॥
अपनो रूप बिहार कौ लीन्हो बहुरि दुराय।
'नन्ददास' पावन भयो सो यह लीला गाय॥
प्रेम रस पुंजनी॥ ७५ ॥

तब बनवारी कृष्ण ने स्वयं अपने शरीर में एक गोपी के दर्शन उद्धव को करवाये उसे देखकर उद्धव के नेत्र प्रेम के आंसुओं से भर आये और उनके अज्ञान का जाल गिर गया। फिर कृष्ण ने अपनी वह लीला का रूप छिपा लिया।

कृष्ण भगवान की यह प्रेम-रस से परिपूर्ण 'लीला' गा कर ही नन्द दास कवि पवित्र हो गया है।

शब्दार्थ-सूची

रास-पञ्चाध्यायी

प्रथम-अध्याय

१—सुभकारी=मंगलमय, कल्याणकारी। अविकारी=विकार-रहित, शुद्ध। जोतिमय=ज्योतिर्मय, प्रकाशमान्।

२—कतहू=कहीं।

३—नीलोत्पल=नीला कमल। जोवन=यौवन। भ्राजे=सुशोभित होता है। अलि-अवलि=भ्रमरावली।

४—दिपत=दीप्त (प्रकाशवान) होता है। विभाकर=चन्द्रमा। निकर=समूह प्रतिबन्ध=बाधा, बन्धन। दिवाकर=सूर्य।

५—कृपा-रंग-रस-ऐन=करुणा के रंग और आनन्द के घर। ऐन (अयन)= घर। रतनारे=अरुणिम। कृष्णरसासव-पान-अलस=कृष्ण के प्रेमरस की मदिरा पीकर अलसाये हुए। घूम=तिरछे।

६—नासा=नासिका, नाक। बिम्ब=बिम्बाफल, जो लाल होता है। मसि भीनी=निकलती हुई मूंछ की रेखा।

७—स्रवन (श्रवण)=कान। गंड-मन्डल=कपोल-मन्डल। मधु=मिठास।

८—कम्बु=शंख। धरमु=धर्म।

९—भीर=भीड़, पुंज। अन्तर=भीतर।

१०—उदार=विशाल। हिय-सरवर=हृदय रूपी सरोवर।

११—कुण्डिका = भँवर, छोटा कुण्ड। त्रिवली = पेट में पड़नेवाले तीन बल।

१२—गूढ़ = कठोर, दृढ़ या गढ़ी हुई। जानु=जंघा। आजानुबाहु=जंघा तक पहुँचती हुई बाहें। लोलें=चंचल होती हैं।

१३—दिनमनि=सूर्य। दुरि=छिपकर। घुरि=घेरकर या घिरकर।

१४—लोक-ग्रोक=लोकों का समूह। विभाकर=चन्द्रमा।

१५—रहस्य=गुप्त, गोपनीय, गूढ़। पंच प्राण=प्राण, ग्रपान, व्यान, उदान ग्रौर समान।

१६—चिद्घन = चेतनतायुक्त, चैतन्य-स्वरूप। जड़ताई=जड़ता।

१७ नग-पर्वत वीरुध=पौधा। काल-गुन-प्रभा=समय के गुणों का प्रभाव।

१८—ग्रविरुद्ध=बिना विरोध। हरि-मृग=सिंह ग्रौर हरिण। ग्रनुसरहीं=ग्रनुसरण करते हैं।

१९—भ्रू विलसति=भृकुटी के विलास (खेल) से विलास करती है।

२०—श्री=शोभा। ग्रनन्त=ग्रसीम। संकरसन=सकर्षण (बलराम); या शंकर से।

२१ —रमा-रमन=रमापति विष्णु। सुदेस=सुन्दर।

२२—बर बानिक=श्रेष्ठ शोभा या सजधज।

२३—कल्पतरु=कल्पवृक्ष। चिन्तामनि=इच्छित फल देने वाली एक मणि।

२७ —लुब्ध=लुभाये हुए। ग्रपछरा = ग्रप्सरा।

२८—कुहीफुहारें, नन्हीं बूँदें। गुही=गुँथी हुई। सुही=सुशोभित।

२९—ग्रवर = ग्रौर, ग्रन्य।

३१—ग्रङ्क चित्त=संख्या के चिन्ह-सहित। षोडश=सोलह। चक्राकृति=चक्र के ग्राकार का गोल।

३२—करनिका=कर्णिका; कमल का मध्य भाग। पुरन्दर=इन्द्र।

३३—कौस्तुभ=समुद्र-मंथन के समय निकले चौदह रत्नों में से एक। उडु=तारा।

३६—पुगन्ड (पौगण्ड)=किशोर (१० से १६ वर्ष तक की) ग्रवस्था वाला।

३८—माधुरी=माधुर्य, सुन्दरता।

३९—जराय=जड़ा हुग्रा ग्राभूषण।

४०—मुकुलित=प्रफुल्लित।

४१—बाल ती=बाल स्त्री, कुमारी।

४२—लुनाई = लावण्य । छपा (क्षपा)=रात्रि ।

४३ – उडुराज=चन्द्रमा । नागर=चतुर ।

४ .—अरुनिमा (अरुणिमा) = लालिमा । मनसिज=कामदेव ।

४५—फटिक (स्फटिक) = बिल्लौर । वितनु=अति सूक्ष्म, वितान=मण्डप

४६—अघटित घटना चतुर=अकल्पनीय या असम्भव घटना को घटित करने में चतुर । अधरासव=अधर का मादक रस । जुरली=रंगी हुई, मिली हुई ।

४७—अगम=रहस्यपूर्ण । निगम=वेद । नाद=ध्वनि ।

४८ —कल=सुन्दर । बाम-विलोचन बालन=टेढ़ी (तिरछी) दृष्टिवाली बालायें ।

४९—गीत धुनि को मारग गहि=मुरली के गान की ध्वनि की दिशा में । भीति= दीवार ।

५०—अमृत को पंथ = अमृत पाने का मार्ग । आन=अन्य ।

५१ —गुणमय=सत्व, रज, तम गुणों से युक्त । प्रारब्ध = संचित पाप-पुण्यों का फल । संच्यैं=संचित किया ।

५२ - दुसह=सहने में कठिन । अघ=पाप ।

५३—छीन=क्षीण ।

५४—इतर=हीन, अन्य । पाहन=पाषाण, पत्थर (पारस से तात्पर्य) । सुअन (सूनू)=पुत्र ।

५५—संगम = सम्बन्ध । विहंगम=पक्षी ।

५६—अगमगति=अगम गति वाली ।

५७—पाँच भौतिक=पाँच भूत (तत्त्व) वाली—(पाँच तत्त्व हैं-जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और आकाश)

५८—आभरन=आभूषण ।

५९—भगवत = भक्त ।

६०—उदर-दरी में=पेट के भीतर ।

६१—नइ=नई । लंपट=कामी । परजुवति बात=पर-स्त्री से वार्ता ।

६२—परिहरि=छोड़कर ।

६३—सर्वभाव=सभी प्रकार की भावना ।

६५—ओपी=मग्न ।

६८—सुभग=सुन्दर । अरबरे=टकटकी लगाये ।

६६—छेंक्यो=रोका !

७२—सर्वरी (शर्वरी)=रात्रि । सगरी (सकल)=सब ।

७३—बंक=टेढ़ा । माल=माला, समूह,

७४—उतराति=तैरती है ।

७५—पुतरनि=पुत्तलियां । पाँति=पंक्ति ।

७६ –छवि-सींव=शोभा की सीमा, अति सुन्दर । नै=झुक । नाल=मृणाल । अलक-अलिन=अलक रूपी भौंरे । नमित=झुकी ।

७७—हुतासन=अग्नि । सांसन=श्वास ।

७८ · अनुरागी=प्रेमानुरक्त ।

८० ·–दहिये=जलाते हो ।

८२- –धरनि=धरती ।

८५—नवनीत-मीत=मक्खन के प्रेमी ।

८६—आतमाराम=आत्मरूप (ब्रह्म)

८७—कुमकुम=कुंकुम (रोली) घनसार=कपूर । कपूर । चरचित (चर्चित)= लेप किया हुआ ।

८८ –गोहन=संग ।

८६—चोप=उत्साह ।

६१—घूंघरी=धुंधली । अलिन्द=अलीन्द्र, भ्रमर ।

६२—तुसार (तुषार) = शीतल । मलय = चन्दन । मन्दार = एक स्वर्गिक वृक्ष ।

६३—एलि=इलायची । करवक=कटसरैया का पेड़ ।

६४ –परिमल=सुगन्ध । कमोद=कुमुद । आमोद=प्रसन्नता ।

६६—नीवी=लहंगे या साड़ी की ग्रन्थि । बिलास=हाव-भाव, क्रीडा, चेष्टा ।

६७– मैन (मदन) = कामदेव । पंचसर=पाँच वाण वाला (कामदेव) ।

६८—मनमथ=मन को मथनेवाला ।

६६—निषंग=तरकश, तूणीर ।

१००—आलिगति=आलिंगन करती है।

१०१—गरब=गर्व।

१०३-भंभरी = भंवर, जल में पड़ने वाला चक्कर। छिलछिल = उथला, छिछला।

१०४—वरधव=(वर्धन) = बढ़ाना।

— — —

द्वितीय अध्याय

१—अम्ल=खट्टा। रुचिकारी=रुचिकर, स्वादु।

२—पटु=पट-वस्त्र। रंचक=लेश।

३—निमेष=पलक, पल।

६—जाति=चमेली की भाँति एक पुष्प।, जूथिका=यूथिका, जूही। मान=रूठना।

७—मुसकि=मुसकराकर, मन मूसे=मन चुराये हैं।

८—मुकताफल बेलि=मोतिया की लता।

९—मंवर=आक, मदार। करबी=करौंदा।

१०—दुख कदन=दुःख दूर करने वाला। सिरावहु=शीतल करो!

११—अनुसरि=अनुसरण करके, पीछे चल कर। डहडहे=प्रसन्न, प्रफुल्लित।

१३—तुंग=ऊँचा। सुरङ्ग=सुन्दर रंगवाले। उलहे=प्रसन्न हुए।

१६—गोविन्द=विष्णु।

१७—चाँदने=प्रकाश में। गहबर=घना।

१९—रसाल=रसमय, मधुर।

२०—भृङ्गी=एक कीट।

२१—चब (यव)=जौ। गद=गदा। कुलिस=वज्र।

२४—सैनी (श्रेणी)=पंक्ति। मुकर=सुन्दर। गुही=गुथी। सुसुम (सुषभ)=सुन्दर।

२५—मुकुर=दर्पण। चिलोल=चंचल, हिलता हुआ।

२६—अपमाहिं=अपने मन में या आपस में।

२७—गुहन (ग्रंथन)=गूँथना। अन्तरु (अन्तर=अन्तराय, ओट।

२६—निरमत्सर (निर्मत्सर)=मत्सर-रहित, ईर्षा-द्वेषी रहित। चूड़ामणि=सिरमोर।

३०—आराधे=आराधना की। निधरक=निधड़क, निश्चित, निर्भय।

३२—धर (धरा)=पृथ्वी पर।

३३—काछे=निकट (बंगला प्रयोग । रूसि (रोष)=रुष्ट होकर।

३४—बास (वास)=गन्ध।

३५—क्वासि क्यासि (संस्कृत)=कहां हो ? बदति (वदति)=कहती है।

३७—अदुरि-बहुरि=घूम फिर कर।

तृतीय अध्याय

१—अवधि-भूत=निर्धारित समय तक रहने वाले।

२—नैनमूंदिवो=आंखमिचौनी। हांसी=हँसो। सुहथ (स्वहस्त)=अपने हाथ से।

३—झर=ज्वाला, लपट। नगधर=सर्प (कात्तिय)।

४—इतराने=इतरा गये, घमण्ड में आ गये।

५—अपननि=अपनों को।

६—सिल (शिला)=कंण या कंकड़।

७—प्रनत मनोरथ=अधीनों की मनोकामना (इच्छा)।

८—फनीं (फणी)=सर्प। अर्पे=नृत्य किया।

१०—हरे हरे = धीरे धीरे। अटवी=बन। अटत=घूमते हैं। कूट=नोक या कोना।

चतुर्थ अध्याय

१—सुधानिधि = अमृत का समुद्र। कलोल (कल्लोल)=लहर। अलबल= व्यंग, अन्डबन्ड।

२—दृष्टि बन्ध कै=निगाह बांधकर। नटवर=नट या जादूगर।

३—बनी=सुशोभित। हथ=हाथ। मनमथ=मन्मथ (कामदेव) का मन मथने वाले।

४—घन=तन यर शरीर। उझकत = झांकती है।

५—असन (अशन)=भोजन, खाना,।

६—चटपटि=तीव्रता। कान्हर=कृष्ण।

७—पटुकी=कमर में बांधने का वस्त्र। सटकि=हटकर, छूट।

८—पुलिन=तन्ट। छादन (आच्छादन)=वस्त्र या ओढनी।

९—बेर=बार। वितरत=वितरण करते हैं।

१०—इकली=एक मात्र। ठकुराई=प्रभुत्व।

११— भजते कौं भजै=(१) अपने को जो याद कर अर्थात् प्रेम करे उसे प्रेम करते हैं, उसका भजन करते हैं, अर्थात् पारस्परिक प्रेम (२) नश्वर संसार के प्रेमी। अनभज तनि भजई (१) जो अपने से प्रेम न करे उससे भी प्रेम करता है अर्थात् एकांगी या निःस्वार्थ प्रेम (२) शाश्वत परब्रह्म के उपासक, ज्ञानी। कावन=कौन। दुहुअनि तजही=जो दोनों को छोड़ देते हैं। (२) भक्त, समुग उपासक।

१६—ऋणी=कृतज्ञ।

१७—कलप=कल्प।

१८—अपवश=अपने वश में।

पंचम अध्याय

१—गंसि=मनोमालिन्य।

२—बिलुठत=लोटती है।

३—तुल (तुल्य)=सदृश, समान। निरवधि=अवधि-रहित, सनातन। उनमूल (उन्मूलन)=उखाड़ना।

२—नित=झुका हुआ ।

५—मरकतमनि=नीलम ।

६—किंकिन=करधनी । अदंग, उपंग, चंग=भिन्न वाद्य-यन्त्र ।

७—मुरज=पखावज । जन्त्र (यन्त्र)=वाद्ययन्त्र । रली=लीन हो गई ।

८—कठतारन=करताल या ताली ।

९--निरतत=नृत्य करती है ।

१०----बिलुलित=झूलती है । बेनी (वेणी)=चोटी ।

११----मलकनि=आँखों की वंकिम मुद्रा ।

१२--तिरत=नृत्य की एक मुद्रा । लटू=लट्टू । लट्टू होना=प्रसन्न होना ।

१४---चाहि=देखकर ।

१५—वारत=निछावर करते हैं ।

१६—छेकि=रोककर ।

१७ तमोल (ताम्बूल)=पान । ढरि=रीझकर, अनुरक्त होकर ।

१८ गमन=गति य गमन । आगम=वेद पुराण ।

१९ मण्डल=चक्र का आकार ।

२० राग-रागिनी समझन कौं=रागनियाँ समझनेवाले को ।

२३ डगरौ=डगर मार्ग ।

२४ केतिक=कितनी ।

२५ व्रीड़न = लजानेवाले ।

२६ उरसि=हृदय (छाती) पर । मरगजी=मली या मखली हुई ।

२७ करनी (करिणी)=हथिनी ।

२८ कनक=स्वर्ण ।

२९ मकरन्दनि—मकरंद (फूलों के रस) से ।

३२ अज=ब्रह्मा ।

३३ अमला=निर्मल, पवित्र ।

३४ रेनु (रेणु)=धूल ।

३५ विषय विदूषित=विषय से दूषित ।

३७ असर्घा (अश्रद्धा)=श्रद्धाहीन । नास्तिक (नास्तिको वेदनिन्दकः) =

नास्तिक (नास्तिको निन्दकः)=ईश्वर में विश्वास न करने वाला । धरमवहिर मुख=धर्म से पराङ्मुख अर्थात् अधर्मी ।

३८—भागवत=वैष्णव ।

३९—सप्तनिधि=सात समुद्र । भेदक=तोड़ने वाली ।

४०—निगम=बेद । धार हि धार = धारा ही धारा पर ।

४१—जिनि=मत ।

४२—श्रुतिसार=बेद का सार । गहत=ग्रहण करते हैं । गुनि=समझकर ।

२—भ्रमर-गीत

१ –सील=शील (चारित्र्य)। गुन-आगरी-गुण की खान । धुजा (ध्वजा)= पताका ।

२—संकेत=एकान्त-स्थल, बहुरि=लौटकर ।

३—विवस्था (व्यवस्था)=परिपाटी, परम्परा, अवस्था, विधान ।

४—अर्घासन=अर्घपाद्य युक्त आसन । परिकरमा (परिक्रमा)=प्रदक्षिणा । रसाल=रसपूर्ण ।

५—सिगरे=सकल, समस्त ।

६—आबेस (आवेश)=अतिरेक, आधिक्य, भावोद्दीपन । प्रबोधहीं= समझाते हैं ।

९—ब्याधि = प्रपंच, दोष । निर्लेप=गुण के लगाव से मुक्त । अच्युत=क्षय-रहित, पूर्ण ।

१०—हुतौ=था ।

११—जाता (जात)=उत्पन्न । जुगुत (युक्ति)=रीति, साधना, क्रिया ।

१२—जोग=योग; जोग=योग्य । धूर=धूल, भस्म ।

१३—ईस = महादेव । धूरि-क्षेत्र=धूलिक्षेत्र, पृथ्वी, संसार । सप्तद्वीप= सातद्वीप ।

१४—बात=विषय, भेद, रहस्य ।

१५—परब्रह्मपुर=बैकुण्ठ ।

१६—बेरी=बेड़ी । भोग=नर्कभोग ।

१७—पद्मासन=योग का एक प्रकार का आसन । साँस=श्वास, सायुज्य=ब्रह्म

में (जीव के) लीन होने की स्थिति ।

१८—जोति=ब्रह्म-रूप ज्योति । भजैं=ध्यान करते हैं ।

१९—नेति=न+इति=यह या ऐसा नहीं है । कहु अकाश आदि=कहिए आकाश को किस का आधार है ?

२१—वदत=कहता है ।

२२—निसरे=निकले हैं । आसक्ति=लगाव ।

२३—लौ=लगन । वस्तु=वास्तविक, सच्ची ।

२४—दुराई = छिपा हुआ ।

२५—निहकर्म=निष्कर्म, कर्म-आसक्ति से रहित ।

२७—अच्युत=अक्षय । अधोक्षज=वासुदेव कृष्ण ।

२८—करतल-आमलक=हाथ में आँवले की भाँति प्रत्यक्ष ।

२९—पियरे=पीले, बागे = वस्त्र-विशेष, स्रवन-बहता है; चुचात-चूता है; तरक=रीति ।

३०—गुसाईं=गोस्वामी, इन्द्रियों के स्वामी । बिडरात=भटकती हुई ।

३२—दुरि = छिपकर, कहा हिय लोन लगावौ=क्यों हृदय पर नमक लगा रहे हो ? कोरि (कोटि) = करोड़ ।

३३—इतराय गये हो=घमंडी हो गये ।

३४—व्याल अनल विष ज्वाल=कृष्ण के द्वारा गोप-गोपियों के कालियनाग, दावाग्नि आदि से रक्षा किये जाने का संकेत है ।

३५—पूतना=वह पौराणिक राक्षसी जो शिशु कृष्ण को अपना विषाक्त दूध पिलाकर मार डालना चाहती थी, परन्तु स्वयं मारी गई । यह कंस की भेजी हुई थी ।

३६—ताड़का=वह पौराणिक राक्षसी जिसे मुनि विश्वामित्र की रक्षा करते समय राम ने बाण से मारा था ।

३७—इस्त्रीजित = स्त्रीजित, कामजित । लच्छ=लक्ष, लाख । सूरे=शूर (वीर) बिलेप=असुन्दर, कुरूप ।

३८—आली = सखी । वनमाली=कृष्ण या विष्णु । नाव=नौका । अकाय= विशालकाय । वामन=वामनावतार ।

३६—फरसा=परशु । संघारी=संहार किया । सोनित = शोणित, रक्त । पोषे = तर्पण किया । चित्र=विचित्र । बिलग = बुरा ।

४०—सिच्छा=शिक्षा । वपु=शरीर । विदार्यो=चीर डाला ।

४१—दुलही=दुलहिन (रुक्मिणी की ओर संकेत) छुधित (क्षुधित)= भूखा ।

४३—तिमिर भाव आवेश—अज्ञान का आवेश या तमोगुण का प्रभाव । वारि=न्योछावर करके !

४४—दुविधा ग्यान=विरोध ज्ञान (संशयात्मक) ।

४५—माँझ (मध्य) में, भेष=वेप ।

४६—घातें=चालें । जनि = मत ।

४७—मरत कह बोल को=क्या बोलने को मरता है !

४८—मधुकारी=मधु (संचय) कर्त्ता ।

४६—मोहन=कृष्ण, मोहने वाला । पतियाय (प्रतीति)=विश्वास करे ।

५१—रस-रस और प्रेम । रस=आनन्द । रस=द्विविधा भाव—भ्रमात्मक, संशयात्मक भाव । छन्द=छल या चाल ।

५२—विसेख्यो=विशेष रूप से माना । वादि=व्यर्थ ।

५३—तरक-वितरक=तर्क-वितर्क जुक्ति=युक्ति । अतीत=विगत या बिना ।

५४—चतुरंगी या चौरंगी = चतुर-चालाक । त्रिभंगी = तीन अंग भंग वाले (या वाली) ।

५५—तीरथ=तीर्थ, तारने वाला (शाब्दिक अर्थ) मेला=जमाव और मिलाप । गाहक=ग्राहक, लेने वाला । रावरे=आप ।

५६—मधुवन=मथुरा, सिद्ध = सिद्धि पाये हुए । योगियों की एक जाति ।

५७—रसिक=रस के लोभी, प्रेमी । आतम = आत्मा, संथा=पाठ । चटसार= चटशाला, पाठशाला ।

५८—जेतिक=जितने । भुअंग=भुजंग, सर्प ।

५६—अनुरागी=प्रेमवाला या लाल । अलिन्द=अलीन्द्र भ्रमर-राज (श्लेष से सखी अर्थात् गोपियों के स्वामी ।)

६०—संग्या (संज्ञा)=नाम ।

६१—अम्बुज=कमल (नेत्र) । कंचुकी=चोली स्कूल के तृन=किनारे के तिनके ।

६२—कृतकृत=कृतकृत्य, कृतार्थ ।

६३—मरम = भेद, रहस्य । निरूपि=निरूपण करके । मरजाद = मर्यादा ।

६४—परमानंद=परम (श्रेष्ठ, उत्तमोतम) आनंद । पटतर=उपमा, समता । विषमता=विरोध, विडम्बना ।

६५—व्याधि=रोग, विकार । आधी आधि = आधा अंश अथवा आधी चिन्ता ।

६६—संग्या (संज्ञा) =नाम । जीवनमूरि=जीवन की मूल, संजीवनी या अतिप्रिय वस्तु ।

६७—गुल्म=छोटा पौधा ।

६८—प्रसाद=कृपा । मधुकर=मधु संचित करने वाला (सार्थक प्रयोग) ।

६९—आवेस (आवेश) =प्रेमाधिक्य । जीवन मूल=संजीवनी ।

७०—परिकरमा = परिक्रमा (चारों ओर वदना की भावना से चक्कर लगाना ।) हेत=प्रेम ।

७१—अवलंबई = अवलम्ब (आश्रय) लेते हैं । मेलो=डालते हो ।

७२—नातरु=अन्यथा ।

७३—काम-तरोवर = कल्पवृक्ष (या काम भाव रूपी वृक्ष) । उलहि = प्रस्फुटित ।

७५—व्यामोहक=व्यामोहकी, मोह की । जारी=जाल । विहार=लीला । पूंजनी—पुंजरूपिणी ।